श्री मुणोत मेघमाला पुष्प न० ४

श्रीमद्वाचक देवचन्द जी कृत

॥ नय चक्र सार ॥

हिन्दी अनुवाद

अनुवादक—

श्री लाधूराम जी सुत मेघराज मुणोत

फलौदी (मारवाड़) निवासी

प्रकाशक—

श्री मुणोत मेघमाला, खैरागढ़ [म० प्र०]

प्रबन्धकर्ता—

ऋषभचन्द मुणोत, खैरागढ़

प्रथमावृत्ति—१००० वि० सं० १९८८

द्वितीया वृत्ति-१००० वि० सं० २०१८

मूल्य-सदुपयोग

आर्या श्री धर्मश्री जी म० सा०

दीक्षा वि० सं० १६७६

॥ ॐ ॥

आर्यारत्न श्री धर्मश्रीजी महाराज के
कर कमलों में

सादर समर्पित

इस संस्था की आप ही संस्थापिका हैं। आपके ही सयोग, प्रेरणा और प्रयास का हम पर यह उपकार है। जो चिर स्थायी हमारे हृदय में रहेगा।

यह पुष्प आप श्री के कर कमलों में समर्पित करते हुए हमें अति हर्ष है। आशा है आप इसे स्वीकार कर हमारे प्रोत्साहन में वृद्धि करेंगे।

फर्म
लाधूराम मेघराज
खैरागढ़

आपका सहोदर–
मेघराज मुणोत

धन्यवाद

खरतर गच्छीय जैनाचार्य प्रखर वक्ता श्रीमद् जिन कवी द्र सागर सूरीश्वर जी महाराज सा० की आज्ञानुवर्तनी प्रवर्तिनी जी श्री पुण्य श्री जी म० की आर्या श्री हीर श्री जी म० की शिष्या विदुषा आर्या श्री धम श्री जी म० के सदुपदेश से जिन महानुभावो ने इस धम प्रचार कार्य में सहायता प्रदान की उन महानुभावो की शुभ नामावली —

१००) आपकी बहिन श्री केसरबाई (दीपचन्दजी ओसवाल, लोहावट)
१००) आपकी बहिन श्री कस्तूराबाइ (मिसरीलाल जी गुलेछा, फलौदा) फम राजनगपुर।
१००) श्री सम्पतलाल जी सा छाजेड की धर्म पत्नी श्री हरखूबाइ राजनादगाँव।
१५) श्री लूनी बाइ (मागीलाल जी बन्धावत, फलौधी)।
२५) श्री मीनाबाई, फलौधा
२५) श्री सिरीया बाई, फलौधी

अन्य सज्जनों के लिये यह अनुकरणीय है।

—प्रकाशक

दो शब्द

द्रव्यानुयोग के प्रखर ज्ञाता श्री मद्वाचक वर्य श्रीमद् देवचन्दजी म० का जन्म वि० सं० १७४६ और स्वर्गवास स० १८१२ में अहमदाबाद में हुआ। आपके विषय में श्री मद् बुद्धिसागर सूरि ग्रंथ माला ने बहुत कुछ लिखा है। द्रव्यानु योग के अभ्यासियों के लिये वे महानुभवों पथ प्रदर्शक थे। द्रव्यानुयोग के ज्ञान पिपासुओं को इन के ग्रंथ पठनीय हैं।

आपने अपने ग्रन्थों का सुखावबोध कराने के लिये गुजराती भाषांतर किया, तथापि हिन्दी भाषा भाषियों के लिये कई ग्रन्थ हिन्दी में भी अनुवादित हो गये हैं।

आपका यह नय चक्र सार ग्रन्थ मलवादी द्वादश सार नयचक्र का ही दोहन है। इस का हिन्दी अनुवाद प्रथमावृत्ति मेरी प्रकाशित हुई। यह लोकोपयोगी होने से यह द्वितीयावृत्ति आपके सन्मुख है। इसमें सुखाव बोध के लिये कई टिप्पणादि लिख कर सरल बनाने का यथा शक्ति प्रयास किया है। जो पाठकों को विषय समझने में अनुकूल होगा। मति दोष या प्रेस की असावधानी से न्यूनाधिक हो उसे कृपया सुधार कर हमें भी सूचित करें। ॥ सुज्ञेषु किं बहुना ॥

फर्म

लाधूराम मेघराज

खैरागढ़ राज० (म प्र)

—मेघराज मुणोत

शुद्धि पत्र

पृष्ठ ६२ पंक्ति २० पर जो प्रश्न लिखा वह उत्तर है—यथा प्रश्न आठ रुचक प्रदेश निर्मल कैसे रहे ? उत्तर नो चल इत्यादि।

१३१-२ दो लकीरों में प्रवर्तमान शब्द समीप आ गया इस लिये बीच का सम्बन्ध छूट गया—यथा प्रवर्तमान प्रसिद्ध पने हो। किन्तु अन्य स्थान या अन्य क्रिया रूप से प्रवर्तमान घट घटरूप में नहीं है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१४	पुघ	पुन्य	५	१५	सघ	सम्न
५	१५	पुघ	पुन्न	६	१	थारव	यात
१५	१	प्राप्य	प्राय	१६	१	मारित	चारित
२५	४	अगुका	अगुरु	२८	१२	नया	तया
२६	२	पदय	परर	३४	१४	का	का आधार
३७	२०	आतमा	लगग	७८	१३	भेद	से वस्तु में भेद
८४	११	भिका	लिका	६६	१२	ध्यान	ध्यानर
१०५	६	त्ये	चे	१०४	१०	इच्छत्व	इच्छत्य
१२४	१३	वे	ये	१३२	१७	क्र	क्ष
१३६	४	सनरत	समरन	१५०	७	घर	घट
१४६	८	इन्सान	इनसात	१४७	८	इन्या	इत्या
१५३	६	हत्ते	पत्तो	१५३	६	घ	च
१५५	७	सम्यमद	दर्शन				

विषय-सूची

पृष्ठ

"नय चक्र सार" के हिन्दी अनुवादक—

श्री मेघराजजी मुणोत, खैरागढ राज (म० प्र०)

(जन्म विक्रमी संवत् १९४२, फलौदी)

॥ ॐ श्री पार्श्वनाथाय नमः ॥

श्री मद्वाचक वर्य देवचन्दजी म० कृत

नय चक्र सार

का

हिन्दी अनुवाद

मंगलाचरण (ग्रंथकार द्वारा)

प्रणम्य परंब्रह्म शुद्धानन्द रसास्पदम् ।
वीरं सिद्धार्थ राजेन्द्र, नंदन लोक नन्दनम् ॥१॥
नत्वा सुधर्म स्वाम्यादि, संघ मद्वाचकान्वयम् ।
स्वगुरून दीपचन्द्राख्य, पाठकान श्रुत पाठकान् ॥२॥
नयचक्रस्य शब्दार्थ, कथन लोक भाषया ।
क्रियते बालबोधार्थ, सम्यग मार्ग विशुद्धये ॥३॥

अर्थ —परंब्रह्म, शुद्धानन्द के रसस्थान, लोक को आनन्द देने वाले, ऐसे सिद्धार्थ राजा के पुत्र श्री वीर भगवान को प्रणाम करके तथा सुधर्मास्वामी आदि संघ के वाचक समुदाय को और अपने गुरू दीपचन्द्रादि श्रुत पाठकों को नमस्कार कर के अल्पज्ञ जनों के लिये बोधार्थ व सम्यग् मार्ग की विशुद्धि के हेतु "नयचक्र" के शब्दार्थ को मैं लोक भाषा में कहता हूँ।

ग्रन्थ कर्ता द्वारा लिखी हुई प्रशस्ति का हिन्दी अनुवाद

जैनागमों में चार अनुयोग कहे हैं—(१) द्रव्यानुयोग, (२) चरण करणानुयोग, (३) गणितानुयोग, (४) धर्म कथानुयोग।

छः द्रव्य, नवतत्व व गुण, पर्याय, स्वभाव और परिणमनादि भावों को जाने उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। इस में पचास्तिकाय का स्वरूप कथन करना योग्य है। इन पचास्तिकायों में आत्मा नामक अस्ति काय द्रव्य है। यह अनन्त है। उनके मुख्य दो भेद हैं—एक सिद्ध और दूसरा ससारी।

सिद्ध निष्पन्नात्मा सर्व कर्मावरणदोषों से रहित, सम्पूर्ण केवल-ज्ञान, केवल दर्शनादि गुण युक्त अखंड, अमल, अव्याबाध आनन्दमयी लोक के अंतिम भाग में निराजमान और स्वरूप भोगी हैं वे जीव सिद्ध कहलाते हैं। सिद्धता सब जीवात्माओं का मूलधर्म है। उस सिद्धता की इच्छा कर, सिद्ध भगवान की यथार्थता को पहिचान कर उस का बहुमान करना चाहिये और अपनी भूल से अशुद्ध चेतना परिणमन द्वारा जो ज्ञानावरणादि कर्म बांधे हैं उन्हें दूर करके सम्पूर्ण रूप मे सिद्धता की ओर अपनी रूचि करना यही शास्त्र कार की हित शिक्षा है।

दूसरा भेद ससारी जीवों का है। वे अपने आत्म प्रदेशों से स्वकरता ने कर्म पुद्गलों को ग्रहण कर उस में लीन भाव हो गये हैं। वे

मिथ्यात्व गुण स्थानक से यावत् अयोगी केवली गुण स्थानक के चरम समय तक सब जीव ससारी कहलाते हैं।

उन के दो भेद (१) अयोगी, (२) सयोगी। सयोगी के दो भेद (१) ३ सयोगी केवली,(२)४ सयोगी छद्मस्त। छद्मस्त के दो भेद(१)५ अमोही, (२) ६ समोही। समोही के दो भेद (१) ७अनुदित मोही,(२)८उदित मोही उदित मोही क दो भेद (१) सूक्ष्म मोही, (२) बादर मोही। बादर मोही के दो भेद (१) श्रेणी प्रविपन्न, (२) श्रेणी रहित। श्रेणी रहित के दो भेद (१) सयमी विरती, (२) अविरती। अविरति के दो भेद (१) सम्यक्त्वी, (२) मिथ्यात्वि। मिथ्यात्वी के दो भेद (१) ग्रन्थी भेदी, (२) ग्रन्थी अभेदी। ग्रन्थी अभेदी के दो भेद (१) भव्य, (२) अभव्य। बहुत से अभव्य जीव ऐसे हैं जो श्रुताभ्यास करते द्रव्य में पच महा व्रत ग्रहण करते हुए भी आत्मधर्म की यथार्थ श्रद्धा के विना उन का पहला मिथ्यात्व गुणस्थानक कभी भी नहीं बदलता, इसलिये वे सिद्ध पद प्राप्ति के लिये अयोग्य हैं। इनकी सख्या चौथे अनन्ते जितनी कही है।

---

१ चवद में गुणस्थानक वर्ती (२) पहले से १३ वें गु० वर्ती। (३) १३ वें गु० वर्ती। (४) पहले से १२ वें गु० वर्ती। (५) १२ वें गु० वर्ती। (६) पहल से १० वें गु० वर्ती। (७) ११ वें गु० वर्ती। (८) पहले से १० वें गु० वर्ती।

पाचवें और सातवें को अमोही और अनुदित मोही कहा इसका तात्पर्य यह है कि जिसके उदय और सत्ता से मोहनीय सर्वथा क्षय हुआ वे अमोही हैं। और जिनकी सत्ता और उदय मोहनी का उपशम है वे अनुदित हैं समय पाय के उदित होंगे।

भव्य जीव सिद्ध पद प्राप्ति की योग्यता वाले हैं। कारण सयोग मिलने पर इनका स्वभाव * बदल जाता है। ये अभव्य से अनन्त गुन हैं। कितनेक भव्य जीव ऐसे भी हैं जो सामग्री के अभाव मे सम्यक्त्व भी प्राप्त नहीं कर पाते। (उक्तंच)

> विशेषणवत्वा समग्गी अभावाओ,
> ववहाररासि अपवेसा ओ ॥
> भव्वावि ते अणंता,
> जे सिद्धसुह न पावंति ॥१॥

जिन भव्य जीवों में योग्यता धर्म का अस्तित्व है वे द्रा भव्य कहलाते हैं। मिथ्यात्व को परित्यज शुद्ध यथार्थरूप आत्मस्वरूप पने व्यापक वनी आत्मा का स्वधर्म है। जिसके सयोग से आत्मधर्म प्रकटे उसे साधन धर्म कहते हैं।

साधन धर्म के दो भेद —(१) वायण, पुच्छणादि। वदन, नमनादि, पडिलेहण प्रमार्जनादि, जितनी योग प्रवृत्तिया हैं उन्हे द्रव्य साधन धर्म कहते हैं। जो भाव धर्म प्रकट करने के लिये किया जाय वह उसका कारण रूप है। अर्थात द्रव्य भाव का कारण है।

"कारण कार्यासे द्रव्य" इति आगम वचनात् ॥

(२) भाव साधन धर्म—क्षयोपशम भाव से जो उपयोगादि स्व गुण प्रकट हुए और ज्ञान वियादि गुण द्वारा पुद्गलानुयायी पन से पलट कर शुद्ध गुणी जो अरिहन्त सिद्धादि हैं, उनके गुणानुयायी होना अथवा अनन्त गुणपर्यायरूप स्वगुण आत्मस्वरूपानुयायी होना ही भाव साधन

* अनादि मिथ्यात्व को छोड सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं

धम है । यही स्वात्मगुण उपार्जन का अनुपम उपाय है ।

जब तक आत्मा का शुद्ध स्वरूप, विज्ञानदघन साध्य की ओर लक्ष नहीं है, पुद्गल सुख को आशा से क्रियाकल अनुष्ठानादि करता है वह ससार हतु है । इसलिये साध्य सापेक्षपने स्याद्वाद श्रद्धा से साधन करना श्रेय है । इसी आत्म अभिरूचि को सम्यक्त्व कहते हैं । इसकी प्राप्ति तान कारण से होती है । उसे ग्रन्थी भेद कहते हैं । (तीन करण)

(१) यथा प्रवृत्ति करण, (२) अपूर्व करण, (३) अनिवृत्ति करण । ये तीना करण सञ्जीपचेन्द्री करते हैं । पहला यथा प्रवृत्ति करण भव्य अभव्य दोना करत हैं । इसे कई बार ने अनतिवार किया है (यथाप्रवृत्ति करण स्वरूप) ।

सब कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बाधने वाले जीवों के परिणाम बहुत क्लिष्ट होते हैं, इसलिये वे यथाप्रवृत्तिकरण नहीं कर सकते । (उक्तच विशावश्यके) —

उक्कोसट्ठि न लम्भइ भयणा एएसु पुवलद्धाण ।
सव्वजहन्नठिइसु वि, लम्भइ जेण पुव पडिवन्नो ॥१॥

उत्कृष्ट स्थिति बाधने वाला जीव चार सामायिक (बात) की प्राप्ति नहीं कर सकता । जो सात कर्मों का जघन्य स्थिति बाधता है वही जीव इसके योग्य है । जीव जब एक कोडाकोडी सागरोपम में पल्योपम के असख्यात भाग यून स्थिति बाधने वाला होता है, उस समय यथा प्रवृत्ति करण कर सकता है । वैसी कर्म क्षय शक्ति पहले कभी नहीं प्राप्त की था उस प्रादुभाव को यथा प्रवृत्तिकरण कहते हैं । (उक्तंच भाष्ये)

येन अनादि संसिद्धप्रकारेण प्रवृत्ता कम क्षपण

क्रियते अनेनेति करण जीव परिणाम एव
उच्यते अनादिकालात् कर्मक्षपण प्रवृत्तावध्य—
वसायविशेषो यथाप्रवृत्तिकरण मीत्यर्थ ।

क्षयोपशमिक चेतना वीर्य वाले जीव ससार की असारता और उसको दुःख रूप जानते हैं। परिभ्रम को शरीर से अलग कर उदासीन परिणाम पर सात कर्मों की स्थिति को अनेक कोडा कोडा पूज अर्थात् असख्यात राशि रूप ढेर जो सत्ता में थे, उनका क्षय करके उसमें से किंचित् न्यून एक कोडा कोडी सागरोपम रक्खे इस प्रकार का यथा प्रवृत्तिकरण आत्मा अनंत बार करता है। परन्तु ग्रन्थिभेद नहीं कर सकता। जैसे पहाडी नदी के बहाव में आया हुआ पत्थर लुढकता और ठोकरें खाता हुआ स्वय चिकना और किसी आकार वाला बन जाता है। इसी प्रकार जन्म मरणादि दुःखों से उद्वेग और अनाभोगिक वैराग्य प्राप्त कर जीव यथाप्रवृत्ति करण करता है। पुन आगे बढता हुआ वैराग की विचार धारा से भव भ्रमण को दुःख समझ कर सयोग वियोग को असार समझता है। ज्ञानानन्द अर्थात् ज्ञान ही में आनन्द की गवेषणा करने वाला जीव यथाप्रवृत्ति से आगे अपूर्व करण को करता है।

प्रश्न—भव्य जीव में पलटने की योग्यता है, परन्तु अभव्य जीव क्या करता है ?

उत्तर—अभव्य जीव तीर्थंकरों की भक्ति म आये हुए देवताओं की रिद्धि को देख कर, लोक महिमा और सन्मान से मोहित हो देव पद तथा राज पद प्राप्ति की इच्छा से बाह्य पच महाव्रत तथा ग्यारह

अ गादि पढ कर पुन्योपार्जन करता है। परन्तु उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। केवल पुद्गलाभिलापी होने से उसे गुण स्पर्श नहीं होता।

("महा भाष्य में भी कहा है") "उक्त च"

अर्हदादि विभूति मतिशयवर्ती दृष्ट्वा धर्मादेवं
विधमक्तारो दवत्व राज्यादय' प्राप्यते इत्येव
मुत्पन्न बुद्धे र भव्यस्यापि देवनरेन्द्रादिपदेहय
निर्वाण श्रद्धा रहित कष्टानुष्ठान किंचिदगी कुर्वतो
ज्ञानस्पर्श्य श्रुत सामायिकमात्रलाभेऽपि
सम्यक्तवादिलाभ' श्रुतस्य न भवत्येवेति॥

अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण का स्वरूप जैसा आगमसार में लिख आये हैं उसी प्रकार यहा भी समझ लेना। उपरोक्त श्रीकरण से उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षायिक सम्यक्त्व को पाकर आत्म प्रदेशों में रहा सम्यक्त्व गुण, रोधक मिथ्यात्व मोहनी की प्रवृत्ति के विपाक उदय को दूर करता हुआ, सम्यक्त्व दर्शन गुण में प्रवृत्ति करता है। इस से यथार्थ वस्तु स्वरूप का अवबोध और द्रव्यानुयोग से तत्वज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। इसी से आत्मगुण की प्राप्ति होती है। जो स्वरूपानुयायी प्रवृत्ति आत्मिक गुण रक्षा के लिये ही सुराय मान हो, यह प्रवृत्ति स्याद्वाद ज्ञान से होती है और स्याद्वाद परिणामी पचास्तिकाय है। इस का ज्ञान नय से होता है। नय सहित ज्ञान करना अति दुर्लभ है। नय अनन्ते हैं। (उक्तच)

"जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंती नय वाया॥"

जो वचन पूर्वापर सापेक्ष नहीं उसे कुनय कहते हैं। सर्व सापेक्ष

वचन ही सुनय है। मात्र नय हैं यहाँ उनका किंचित स्वरूप लिखते हैं।

ज्ञान गुण के प्रवर्तन को नय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त धर्म हैं। एक समय श्रुत उपयोग में नहीं आ सकता। कारण श्रुत उपयोग असंख्यात समय का है और वस्तु में अनन्त धर्म प्रति समय परिणमन हुआ करता है। इसलिये श्रुत सा सापेक्ष से ही सत्य हो सकता है। सापेक्ष वाक्य को ही नय कहते हैं। केवली का उपयोग एक समय वर्ती है। इसलिये उनको नय की आवश्यकता नहीं पड़ती तथापि वचन उच्चारण करते समय उन्हें भी नय की आवश्यकता रहती है। क्योंकि वचन का उच्चारण अनुक्रम से होता है और वस्तु धर्म का प्रवर्तना प्रति समय अनन्ती है, इस लिये सापेक्ष नय की आवश्यकता रहती है।

पूज्य जिन भद्र गणि क्षमाश्रमण कहते हैं –

जावादि द्रव्य में जो गुण हैं,वे अनन्त स्वभावी है। गुण के परिणमन और प्रवृत्ति में जिस समय कारणता है, उसी समय कार्यतादि अनन्त प्रवृत्तियां रही हुई हैं। उसका हर एक प्रकार से "भिन्न भिन्न" अवबोध नय द्वारा ही हो सकता है। इसलिये सम्यक्त्व रुचि वाले जीवों को नय सहित ज्ञान करना चाहिये। पहले गुरुगम से सब द्रव्य, उस में गुण, पर्यायादि धर्म रहे हुए हैं उन्हें पहिचाने, यह पीठिका कही। अब मूल के अर्थ की व्याख्या करते हैं।

ॐॐॐ

श्री वर्द्धमान मानम्य स्वपरानु ग्रहायच ॥
क्रियते तत्वबोधाय पदर्थानुगामो मया ॥१॥

अथ- श्री=अतिशयादि गुणा रूपी श्रीयुक्त विराजमान शासन नायक अरिहंत वर्द्धमान भगवान को अत्यंत नम्र भाव मे नमस्कार कर (नमस्कार कैसे हो ? है) ताना ही योगा मे स्वअभिमान को अलग करके अपना आत्मा को गुणानुयायी करना उस नमस्कार कहते हैं। इस प्रकार नमस्कार करके स्व = अपने, पर=शिष्य अथवा श्रोतादि के,"अनुग्रह" उपकारार्थ, तत्व - वस्तु धर्म क,बोध = जानने के लिये," पदार्थ" धर्मास्ति कायादि छः मूल द्रव्य के "अनुगम" वास्तविक स्वरुप को "क्रियते" मैं कहता हूँ ॥१॥

ससार में जितने दर्शन है, वे सब दर्शन द्रव्य को भिन्न पने मानते हैं। जैन- नैयायिक सोलह पदार्थ, वैशेषिक सात पदार्थ, वैनातिक सांख्य एक पदार्थ, मिमासिक पाच पदार्थ कहते हैं। ये सब अनभिज्ञ है। पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ नहीं जानते। श्री जिन सर्वज्ञ प्रत्यक्ष ज्ञानियों ने एक जीव और पाच अजीव इस प्रकार छः पदार्थ कहे हैं।

नवतत्त्व रूप जो नव पदार्थ कहे हैं। उस में एक जीव है और दूसरे अजीव है। ये दो पदार्थ ही मुख्य है। शेष सात पदार्थ केवल जीव अजीव के साधक बाधक रूप शुद्ध अशुद्ध परिणति को पहिचानने के लिये भिन्न रूप मे बताये है।

* श्री महावीर स्वामी को नमस्कार करके अपने और शिष्यादि के उपकारार्थ वस्तु धर्म को जानने के लिये धर्मास्तिकायादि के स्वरुप को मैं कहता हूँ ॥१॥

द्रव्याणा च गुणाना च पर्यायाणा च लक्षण ॥
निक्षेप नय सयुक्त तत्त्व भेदै॰ल कृत ॥ २ ॥
तत्र तत्त्व भेदपर्यायै व्याख्या तस्य जीवादिवस्तुनो भाव स्वरूप तत्त्वम् ॥

अर्थ— द्रव्य, गुण और पर्याय के लक्षण को निक्षेप, नय सयुक्त तत्त्व भेद सहित कहता हूँ।

तत्र= जैनागमों में "तत्त्व" वस्तु धर्म विषयक जो भेद पर्यायो की व्याख्या शास्त्रकारो ने पृथक् पृथक् रूप से की है, उस की प्रकारान्तर से व्याख्या करने योग्य जीवादि वस्तु के अर्थ का प्रतिपादन करना यही भाव मे स्वरूप तत्त्व है। जैसे- का स्वरूप पीत, गुरु, स्निग्धादि तथा कार्य आभरण आदि और फल स्वरूप इस मे अनेक भोग वस्तु प्राप्त हो सकती है। ऐसे ही जीव का स्वरूप ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि अनन्त गुण तथा कार्य मय वस्तु अवबोध प्रमुख। इसी प्रकार भेद स्वरूप स रहा धर्म ही सब वस्तु का तत्त्व है।

॥ लक्षण स्वरूप ॥

येन सर्वत्राविरोधेन यथार्थतया व्याप्य व्यापक
भावेन लक्ष्यते वस्तु स्वरूप तल्लक्षणम् ।

अर्थ - जिस चिन्ह से विरोध रहित व्याप्य व्यापक रूप से वस्तु का वास्तविक रूप जाना जाय उसे लक्षण कहते हैं।

विवेचन - लक्षण उसे कहते हैं जो गुण स्वजातीय सब द्रव्यों में यथार्थ भाव से अव्याप्ति, अति व्याप्ति और असम्भवादि दोष रहित व्याप्य व्यापक रूप से जाना जाय उसे लक्षण* कहते हैं उसके दो भेद है -(१) लिंगग्राह्य आधार रूप (२) वस्तु में रहा हुआ स्वरूप लक्षण धर्म ॥ लिंग ग्राह्य उसे कहते हैं जैसे - गाय का लक्षण सास्नादि सहित पना। यह

* लक्षण - किसी ने पूछा गाय कैसी होती है ? उत्तर-गाय का कपिलत्व लक्षण है इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि जो लक्षण स्वजातीय सब द्रव्यों में सामान्य रूप से न मिले उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं कपिलत्व लक्षण कपिला गाय के सिवाय अन्य गायों में नहीं मिलता इसलिये यह लक्षण दूषित है। किसी ने कहा शृंगित्व गाय का लक्षण है। इस लक्षण में अति व्याप्ति दोष आता है क्योंकि जो लक्षण अन्य जातियों में भी पाया जाय उसे अतिव्याप्ति दोष कहते हैं।सींग गाय के सिवाय अन्य जातीय भैंस, बकरी इत्यादि जानवरों में भी पाये जाते हैं। इसलिये यह लक्षण भी दूषित है। किसी ने कहा— एक खुर हो उसे गाय कहते हैं। इस लक्षणमें असम्भव दोष आता है गाय केदो खुर होते हैं। यह लक्षण गाय का नहीं है इसे असम्भवदोष कहते हैं। गाय का निर्दोष लक्षण यह है कि जिसके सास्ना और सींग हो उसे गाय कहते हैं।यद्यपि भैंसादि जानवरों के सींग है परन्तु सासना नहीं है। इसलिये उसमें यह लक्षण नहीं जाना जाता और गिद्ध नामक पक्षी के सासना होती है। किन्तु सींग नहीं होते इसलिये उसमें यह लक्षण घटित नहीं होता यह निर्दोष लक्षण माना गया है।

व्याख्याकार रूप लक्षण है। इस व्याख्याकार से जीव रूप्याना भान-बुद्धि आते हैं और वस्तु का वस्तु धर्म से जानता यह स्वरूप लक्षण है। यथा—जिस में चेतनादि लक्षण हो वह जीव तथा जनता रहित हो वह अजीव इत्यादि लक्षण से पहिचानना यह स्वरूप लक्षण है एसे और भी अनेक प्रकार समझ लेना।

भेद स्वरूप

* तत्र द्रव्य भेदा यथा जीवानन्ता
कार्य भेदेन भाव भेदा भवन्ति क्षेत्रकाल
भाव भेदानामेक समुदायित्व द्रव्यत्वम

अर्थ- 'वस्तव्य वस्त्वंशा' कथन करने योग्य वस्तु के चार भेद हैं 'तत्र द्रव्य भेदा' द्रव्य से भेद जैसे मूल लक्षण से सम्प होते हुवे भी पिंडपने पृथक हो उसे द्रव्य भेद कहते हैं। 'यथा' जैसे - सब जीव जीवत्वपने सरीख हैं तथापि प्रत्येक जीव स्वगुण, पर्यायरूप पिंडपने पृथक हैं। एक दूसरा किसी में मिल नहीं सकता इसलिये जीव भिन्न पने अनंत हैं। इसी तरह अजीव द्रव्य भी भिन्नपिंड रूप अनंते हैं। पुद्गल परमाणु

* तत्र' ॥जैनागमों में वस्तु सदृप होते हुवे भी पिंडपने पृथक हो उसे द्रव्य भेद कहा है। जैसे - जीवों में जीवत्व धर्म सामान्य है तथापि गुण पर्याय का पिंडपना जुदा है। इसलिये जीव अनन्ते हैं। कार्य भेद से ही भाव में भेदपना होता है। क्षेत्र, काल, भावों भेदों के एक समुदाय पिंड को द्रव्य कहते हैं।

तडता रूप पने सन्प हो। हुये भा परमाणुपने मन जुदे जुदे द्रव्य है। किसा समय न्यूनाधिक नहा होते इस से द्रव्य भेद समझना चाहिये।

'क्षेत्र से भेद' विस्तीर्ण रूप से अवगाहना करने पर व प्रथक्त्व क्षेत्र अवगाहते है। जैसे —धर्मादि ✱ द्रव्य के प्रदेश अवगाहनाधम से जुदे है परन्तु स्वद्रव्यापेक्षा पिंडपने से अलग नहीं हो सकते सदा सलग्नपने रहते है। गुण पर्याय सर्वप्रदेशा मे अनन्त हैं। व अपने स्व प्रदेश को छोड कर अन्य प्रदेश में नहीं जाते। एक पर्याय अविभाग की और प्रदेश की अवगाहना सन्प है। वे पर्याय भिन्नपने अनन्त है। और अनन्त पर्याय सम्मिलित होकर एक कार्य करे उस गुण कहते है।

काल — एक वस्तु के उत्पाद,व्यय रूप पर्याय अर्थात् परिवर्तन काल को समय कहते हैं। जो उत्पाद व्यय और अगुरुलघु के हानि-वृद्धि की एक परिणमता है। उसका मान ही समय कहलाताहै। पुन दूसरी परिणमता हुई वह दूसरा समय इस तरह अतीत अनागत प्रवृत्ति हुई एक वर्तमान की परम्परा रूप समझना और भविष्य में होने वाली है, वह कार्य रूप मे योग्यता रूप समझना चाहिए। अतीत अनागत की कोई राशि (ढेर) नहीं है यह पञ्चास्तिकाय का परिणमन पर्याय रूप मान को ही काल कहा है। यह समय भेद से काल भेद कहा॥

✱सब जाया के प्रदेश एक समान असख्यात है। तथापि वे दीपक के प्रकाशवत् सकोच विकास अवगाहना मे रह सकते हैं इसलिए क्षेत्र भेद से विस्तीर्ण अवगाही हो तो उसका क्षेत्रावगाह भिन्न कहा जायगा।

अविभाग रूप से आन्ते हैं । और सब प्रदेश में तुल्य है । पचास्तिकाय में केवल अगरुलघु पर्याय का भेद तारतम्य योग वाला है। परमाणु पुद्गल में त भेद से अथवा द्रव्य भेद से वर्णादि के पर्याय का तारतम्य योग है। अर्थात् न्यूनाधिक पना है । जो पर्याय अस्ति रूप है वह द्रव्य स द्रव्यान्तर और प्रदेश से प्रदेशान्तर नहीं होते । अस्ति पर्याय से सामर्थ्य पर्याय अनन्तगुनी हैं । व कार्य रूप है । तथा च महाभाष्य ॥

यावन्तो ज्ञेयास्तावन्तेव ज्ञान पर्याया ते भास्तिरूपा'
प्रति वस्तुनि अनन्तास्ततोप्यनन्तगुणा सामर्थ्यपर्याया

पर्याय की इस ग्रंथ में दो प्रकार स व्याख्या की गई है । एक तो गुण के निरंश अ श को पर्याय रूप मे कहा है । इसे अस्तिरूप पर्याय माना है, दूसरा 'क्रम भावी पर्याय' द्रव्य की उत्तरोत्तरावस्था अर्थात पलटन स्वभाव को पर्याय कहा है। तात्पर्य—द्रव्य और गुण अविभाज्य रूपसे रहते हैं और उसमें पलटन स्वभावी त्रैकालिक अवस्था रूप अनन्ती पर्याय है ।

॥ द्रव्य का सामान्य लक्षण ॥

* तत्र द्रव्य लक्षणम् = उत्पादव्यय ध्रुवयुक्त मत्लक्षण द्रव्य, एतद् द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिको भयनयपेक्षयालक्षणम् ॥ गुणपर्यायवद् द्रव्य एतत् पर्यायानयापेक्षया अर्थक्रियाकारी द्रव्य एतल्लक्षण स्वलक्षणाक

धर्मापनय. धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय,आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय, कालश्चेति ॥

अर्थ—"*तत्र द्रव्य मुख्यलक्षण*" "*उत्पाद*" नवीन पर्याय का उत्पन्न होना, "व्यय" पूर्वपर्याय का व्यय (नाश), "ध्रुव" नित्यपना ये तीनो परिणिती जिस में सदा परिणमन होता है उसे द्रव्य कहते हैं। यहा परिणमन गुण, कारण कार्य दोनों धर्म पने समकाल याने-एक ही समय में प्रवर्तमान होते हैं। अर्थात् कारण बिना कार्य नहीं होता और कार्य न करे उसे कारण भी नहीं समझना। जो उपादान कारण है, वही कार्यरूप में परिणत होता है। जैसे मट्टी घट के लिये उपादान कारण है। वही मट्टी घटरूप कार्यपन परिणमन होती है। कारणता का व्यय और कार्यता का उत्पादन समकाल में होता है। कारणता नवीन होती है। कारणता का भी उत्पाद व्यय है और कार्यता का भी उत्पाद व्यय है। गुण पिंड रूप से और द्रव्याधाररूप ध्रुव है। ऐसी परिणति जिस में परिणमन हो, वही अस्ति रूप द्रव्य है। यही द्रव्य का सत् लक्षण है। यह लक्षण द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक उभय नयापक्षी है। इस में ध्रुवपना द्रव्यास्तिक नय ग्राही है। और उत्पाद, व्यय पर्यायास्तिक नय ग्राही है। यह द्रव्य का पूर्ण लक्षण है। यह वाक्य तत्वार्थसूत्र 'अध्ययन ५ सूत्र ३६" का है।

तत्वार्थ सूत्र में पुनः दूसरा और भी लक्षण बताया है। द्रव्य की स्वकार्य रूप में प्रवर्तना यह उस का गुण है। पर्याय है, यह गुण का पलटन स्वभाव है। और द्रव्य का भिन्न भिन्न कार्य रूप में परिणमन

इस तरह उभय आश्रयि प्रवृत्ति जिस में हो, उस को द्रव्य कहते हैं। अर्थात् गुण * पर्याय दोना धर्म जिसमें हों उसे द्रव्य कहते हैं। यह लक्षण पर्याय नयापेक्षी है। जिस का दो भाग न हो यह द्रव्य का मुख्य लक्षण है। कई परमाणु के स्कंध को द्रव्य मानते हैं, वह उपचार मात्र है। जो अपनी परिणति का त्रिकाल में भी परित्याग नहीं करता, याने मूल जाति को नहीं छोडता, जिसका अगरू लघु षड् गुन हानि वृद्धि रूप चक्र एक साथ फिरता है वह एक द्रव्य है और जिसका पृथक् हो उसे भिन्न द्रव्य समझना चाहिये।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय ये एक एक द्रव्य है। और जीव असख्यात प्रदेशी एक अखंड द्रव्य है। ऐसे जीव लोक में अनंत हैं। वे सिद्ध में बढते हैं और संसारी पने में न्यून होते हैं। पर सब जीव संख्या न्यूनाधिक नहीं होती। पुद्गल परमाणु एक आकाश-प्रदेश परिमाणरूप एक द्रव्य है। ऐसे परमाणु सब जीवो से और सब जीवों के प्रदेशों से भी अनन्त गुणे द्रव्य हैं। स्कंधपने सधा छूटे परमाणु पने न्यूनाधिक होते हैं। परन्तु परमाणु रूप का संख्या में वे न्यूनाधिक नहीं होते। यह निश्चयनय से लक्षण कहा।

---

* गुण पर्याय वत् द्रव्यम् "तत्वार्थ सूत्र अ० ५ सूत्र ३७" या गुणत्वे सति पर्यायत्व द्रव्यत्व गुणवान होके जिसमे कोइ न कोइ पर्याय हो उसे द्रव्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि गुणपर्याय दोना का स्वाश्रयिपने परिणमन है, जिस में उसे द्रव्य कहते हैं।

॥ व्यवहार नय से लक्षण ॥

स्वक्रिया प्रवृत्ति के कर्ताको द्रव्य कहते हैं। यथा—जीव की स्वक्रिया ज्ञानादिगुण की प्रवृत्ति, अथवा समस्त ज्ञेय पदार्थ जानने के लिये ज्ञानगुण की प्रवृत्ति। इस प्रकार सब गुण अपने अपने स्वकार्य में प्रवृत मान होते हैं। जैसे ज्ञानगुण का कार्य विशेष धर्म का जानना, दर्शनगुण का समस्त सामान्य भावों का अवबोध और चारित्र गुण का कार्य स्वरूप रमणता इत्यादि इसी प्रकार धर्मास्ति काय का कार्य गतिगुण प्राप्त हुवे जीव, पुद्गलो को चलन सहकारीत्व प्रदान करना, शेष द्रव्यों के विषय भी स्वगुणापदी कार्य ऐसे ही समझ लेना। यह लक्षण द्रव्य के स्वगुणा की प्रवृत्ति अपेक्षा है। इस स्वकार्यानुयायि प्रवृत्ति को अर्थ क्रिया कहते हैं।

द्रव्य छह हैं-(१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय (४) पुद्गलास्तिकाय (५) जीवास्तिकाय (६) काल। इन से अधिक कोई पदार्थ नहीं है। नैयायिक जो सोलह पदार्थ * कहते हैं वे मिथ्या हैं। कारण कि प्रमाण भिन्न पदार्थ नहीं है। वह ज्ञान है। प्रमेद आत्मा का गुण है। इसे भिन्न पदार्थ कैसे कह सकते हैं। शेष प्रयोजन सिद्धान्तादि सब पदार्थ जीव द्रव्य का प्रवृत्ति है, उन भिन्न पदार्थ कहना उचित नहीं।

वैशेषिक (१) द्रव्य (२) गुण (३) कर्म (४) सामान्य (५) विशेष (६)

* (१) प्रमाण (२) प्रमेय (३) संशय (४) प्रयोजन (५) दृष्टान्त (६) सिद्धान्त (७) अवयव (८) तर्क (९) निर्णय (१०) वाद (११) जल्प (१२) वितंडा (१३) हेत्वाभास (१४) छल (१५) जाति (१६) निग्रह।

समवाय (७) अभाव, ये ७ पदार्थ कहते हैं। इसमें जो गुण पदार्थ कहा है, वह तो द्रव्य में है। उसे भिन्न पदार्थ कहना अनुचित है। कर्म द्रव्य का कार्य है। और सामान्य तथा विशेष ये दोनों परिणमन स्वभाव हैं। समय कारणता रूप, द्रव्य का परिवर्तन है। और अभाव अभाव को कहते हैं। इसे पदार्थ मानना अघटित है। और ये नव पदार्थ भी कहते हैं, (१) पृथ्वी (२) अप (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिक् (८) आत्मा (९) मन। पृथ्वी, अप, तेज, वायु ये आत्मा हैं। परन्तु कर्म योग से शरीर पने भिन्न हैं। दिक् आकाश से भिन्न नहीं है और मन आत्मा के शरीर पने उपयोग प्रवर्तन द्वारा होता है। इस भिन्न द्रव्य नहीं कहना चाहिये।

वेदांतिक सांख्य दर्शन वाले एक आत्मा अद्वैत याने एक ही पदार्थ मानते हैं। उन की भूल है क्योंकि शरीर रूपी है और पुद्गल द्रव्य का स्कंध है। इसलिये एक पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है। आत्मा और शरीर का आधार आकाश है। और यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसे मानना ही पड़ेगा, यहां अद्वैत वाद ठहर नहीं सकता।

बौद्ध-दर्शन वाले चार पदार्थ मानते हैं—(१) आकाश (२) काल (३) जीव (४) पुद्गल। परन्तु जीव और पुद्गल एक ही स्थान में नहीं रहते। चलनादि भाव को प्राप्त होते हैं। इस की अपेक्षा कारण रूप धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दो द्रव्य भी मानने चाहिये। कई संसार का कर्ता ईश्वर मानते हैं। ये भी अनभिज्ञ हैं। निर्मल रागद्वेष रहित परमेश्वर सुख दुःख का कर्ता कैसे हो सकता है? कोई ईश्वर की इच्छा मात्र कहते हैं। इच्छा अधूरे को होती है, परिपूर्ण को इच्छा नहीं

होती और कोइ लीला ही कहते हैं। लीलातो अनजान, अधूरा या अपना आनन्द अपने पास न हो वह करता है, परन्तु जो सम्पूर्ण चिदानन्द है उसे लीला घटित नहीं होती।

मिमासक पाच भूत मानते हैं—इन में चार तो जीव और पुद्गल के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं, और आकाश द्रव्य लोकालोक भिन्न पदार्थ हैं। इस तरह असत्य पने का निराकरण कर के आगम प्रमाण से, कार्यादि से अनुमान प्रमाण से,और न्याय पुर सह छह द्रव्य मानना ही युक्ति संगत है।

॥ अस्ति कायत्व सज्ञा हेतु ॥

* तत्र पचानाम् प्रदेशपिंडत्वात् अस्ति कायत्व ।
कालस्य प्रदेशाभावात अस्तिकायता नास्ति,
तत्र काल उपचारात् एव द्रव्यत न वस्तुवृत्त्या ॥

अर्थ—उपरोक्त छ द्रव्यों में पाच सप्रदेशी अर्थात् प्रदेश पिंडभूत होने से ये अस्ति काय सज्ञक माने गये हैं। और काल प्रदेशाभावी होने से उस में अस्तिकाय पने की नास्तिता कही है। काल को मुख्य वृत्ति से द्रव्य नहीं माना। केवल उपचार मात्र से यह द्रव्य है। जैसे-वस्तुस्वरूप धर्मास्तिकायादि द्रव्य है वैसा काल द्रव्यरूप नहीं है। यदि काल को

* उन छह द्रव्यों में पाच सप्रदेशी होने से अस्तिकाय हैं, और काल द्रव्य अप्रदेशी होने स अस्तिकाय नहीं है। वह उपचार मात्र से द्रव्य है। वस्तु वृत्तिसे नहीं है।

पिंडरूप में द्रव्य मान लिया जाय तो उस का मान क्या ? मनुष्य क्षेत्र में काल का मान है, तो बाहिर के क्षेत्रों में नव पुरातनादि तथा उत्पाद व्यय आदि कौन करता है ? अगर चवदह राज लोक व्यापी मानते हैं, तो असख्यात प्रदेशी लोक प्रदेश प्रमाण मानने से अस्तिकायपना होता है। परन्तु इससे असख्यात् काल द्रव्य की प्राप्ति होगी, और काल द्रव्य अनन्त माना है। इसलिये वास्तविक रूप से इसे पचास्तिकायिक वर्तना रूप पर्यायपने आरोप कर के द्रव्य मानना ही योग्य है। क्योंकि इस में अस्तिकाय का अभाव है। और सर्व द्रव्यों में वर्तनापेक्षा से यह सत्य है। यथा स्थानाग सूत्र में कहा है —

कि मते श्रद्धा समयेति वुच्चते ? गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेव ॥

इस सूत्र से काल जीव, अजीव की वर्तना पर्याय है। इस को उत्पाद व्यय वर्तना को काल कहा है। अजीव में इसको समावेश किया जिसका कारण यह है कि जीव वर्तना से अजीव वर्तना अनन्त गुणी है। इस बहुलता अपेक्षा से काल को अजीव द्रव्य माना है। यथा विशेषावश्यक भाष्ये ॥

न पश्यति क्षेत्र कालावसौ तयोर मूर्तत्वात् अवधेश्च मूर्ति विषयत्वात् वर्तमान रूप तु कालपश्यति द्रव्य पर्यायत्वात्तस्यति ॥

॥ बाइस हजारी टीका में भी कहा है यथा ॥

कालस्य वर्तनादिरूपत्वम् पर्यायत्वात् द्रव्योपक्रम उपन, [illegible]

त्या भगवति सूत्र शतक तेरह में पुद्गल वतना की अपेक्षा से काल को रूपी भी कहा है। अब पंचास्तिकाय के लक्षण बताते हैं।

॥ धर्मास्तिकाय का लक्षण ॥

तत्र गति परिणतानां जीव पुद्गलानां गत्युपष्टम्भहेतुर्धर्मास्तिकाय स चासंख्येयप्रदेश लोकप्रदेश परिमाण ॥

अर्थ—"तत्र" इन पंचास्तिकाया में गति परिणामी पने प्राप्त हुवे जीव और पुद्गलों को गति रूप में अवलम्बन हेतु हो उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। वह असंख्यात् प्रदेश लोक व्यापी लोकमान अर्थात् लोक के एक एक प्रदेश में धर्मास्तिकाय का एक एक प्रदेश अनन्त सम्बन्ध से रहा हुवा है। ये धर्मादि तीन द्रव्य अचल, अवस्थित और अक्रिय है।

॥ अधर्मास्तिकाय लक्षण ॥

स्थितिपरिणतानां जीव पुद्गलानां स्थित्युपष्ट अधर्मास्तिकाय, स चासंख्य प्रदेशलोक परिमाण ।

अर्थ—स्थिर भाव को प्राप्त हुवे जीव पुद्गलो को स्थिरता का आलम्बन हेतु धर्मास्तिकाय है। वह असंख्यात् प्रदेश लोक प्रमाण है।

॥ आकाशास्तिकाय लक्षण ॥

सर्व द्रव्याणाम् आधारभूतः अवगाहक स्वभावानां

जीवपुद्गलानाम् अवगाहोपष्टम्भक आकाशास्तिकाय
स चानन्तप्रदेश लोकालोक परिमाण ।
यत्र जीवादयो वर्तन्ते स लोक असंख्यप्रदेशप्रमाण
तत परमलोक केवलाकाशप्रदेश व्युहरूप
स चानन्तप्रदेशप्रमाण. ।

अर्थ—द्रव्यों का आधार भूत अवगाहन स्वभावी जीव पुद्गलों को अवगाह देने में आलंबन हेतु आकाशास्तिकाय है। वह लोकालोक प्रमाण अनन्त प्रदेशी है। जिस में जीवादि द्रव्य रहते हैं, उसे लोक (लोकाकाश) कहते हैं। वह असंख्यप्रदेशी है। उस के आगे केवल आकाशप्रदेश व्यूह रूप, अनन्तप्रदेशी जीवादि पांच द्रव्यों से रहित केवल आकाश द्रव्य है। उसे अलोकाकाश कहते हैं।

॥ पुद्गलास्तिकाय का लक्षण ॥

* कारणमेव तदन्त्य सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु ॥

* द्वेणुकादि स्कन्धों का अन्त्य (मूल) कारण परमाणु है। वह सूक्ष्म और नित्य है। उस में एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं। वह कार्य लिंगी है। और पूरण गलन स्वभाव वाले परमाणु को पुद्गलास्तिकाय कहते हैं। ये परमाणु रूप से लोक में अनन्त हैं। इसी तरह दो अणु वाले स्कन्ध अनन्ते हैं। तीन अणु वाले स्कन्ध भी अनन्त हैं। एवं यावत् संख्याते, असंख्यात अनन्त अणुवाले स्कंध भी अनन्त हैं। एवं एकैक आकाश प्रदेश में यावत् सर्व लोक में अनन्त अनन्ते हैं। ये चारों अस्तिकाय अचेतन चेतना रहित् अर्थात् जड स्वरूप है।

१ प्रज्ञापनापद, टीका प्र० १६

एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिंगोवे ॥ पूरणगलन स्वभाव पुद्गलास्तिकाय स च परमाणुरूपः ते च लोके अनन्ता एकरूपाः परमाणव अनन्ता द्वणुका अप्यनन्ता, अणुकाः अप्यनन्ता एव संख्याताणुका स्कधा अप्यनन्ता,असंख्याताणुकास्कधा अप्यनन्ता अनन्ताणुस्कन्धापिअनन्ता., एकैकस्मिन् आकाश-प्रदेशे एव सर्व लोके ऽ पि ज्ञेयम् एवचत्वारो ऽ स्ति-कायाः अचेतना ।

अर्थ = जिस में पूरण अर्थात् वर्णादि गुणों की वृद्धि और गलन, अर्थात् वर्णादि गुणों की हानि, ऐसा स्वभाव हो, उसे पुद्गलास्तिकाय कहते हैं। इस का मूल द्रव्य परमाणु रूप है। परमाणु का लक्षण यह है कि द्वणुकादि जितने स्कंध हैं उन सब का आत्यन्तिक कारण परमाणु है। परमाणु अकारण है। न इसको किसी ने उत्पन्न किया है। और न किसी का मिलावट 'मिश्रण' से उत्पन्न हुआ है। यह परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म एक प्रदेश की अवगाहना के तुल्य है। परन्तु एक प्रदेश की अवगाहना में अनन्ते परमाणु समाये हुए हैं। एक परमाणु में दूसरा कोई द्रव्य नहीं समा सकता, इसलिये परमाणु रूप से सूक्ष्म है। और यह नित्य है। जितने परमाणु है वे स्कंधादिपने परिणमते हैं तथापि वे कभी विनाश भाव को प्राप्त नहीं होते। एक परमाणु में एक रस, एक वर्ण,एक गंध और दो स्पर्श होते हैं। सूक्ष्म स्कंध में समुच्चय चार स्पर्श (रुक्ष, स्निग्ध, शीत, उष्ण) होते हैं। इन में से दो प्रतिपक्षि छोड के शेष दो

स्पर्श होते है ॥

प्रश्न —परमाणु द्रव्य दृश्य नहीं है, उसे कैसे मानना चाहिये ?

उत्तर —घटपट शरीरादि कार्य दृश्य है, अग्राह्य है, और रूपी हैं। इसका आदि कारण परमाणु है। यद्यपि यह अति सूक्ष्म है, इंद्रिय अग्राह्य है, तथापि रूपी है। क्योंकि अरूपि मे रूपी कार्य नहीं हो सकता, वह विशिष्ट परिणाम स्वरूप किसी अवस्था में, इंद्रिय द्वारा ग्राह्य होने की योग्यता नहीं रखता, परन्तु रूपी द्रव्य का ही स्कंध रूपी हो सकता है। आकाश द्रव्य अरूपी है तो इसका स्कंध कदापि रूपि नहीं हो सकता, और न वह किसी अवस्था में इंद्रिय ग्राह्य होने की योग्यता रखता है। वास्तविक रूप से परमाणु इंद्रिय ग्राह्य होने पर भी रूपी है।

वे परमाणु द्वयणुकादि स्कंध रूप मे अनन्ते है। तथा एक परमाणु रूप मे भी अनन्ते है। वे एक स्कंध मे मिलते है। तो किसी दूसरे से पृथक भी होते है और स्कंध विनाश हो के परमाणु रूप में भी हो जाता है। इनकी वर्गणा अट्ठाईस प्रकार की है। जिसकी सविस्तार व्याख्या "कम्म पयडी" * कर्म प्रकृति ग्रंथ मे है, उसे देखे।

एक रूप परमाणु अनन्ते है। दो मिल के स्कंधपने को प्राप्त हुये भी अनन्ते है। एवं तीनादि यावत् संख्याता अणुक स्कंध, असंख्याताणुक स्कंध, अनंताणुक स्कंध अनन्ते अनन्ते है। उपरोक्त जाति के स्कंध एक आकाश प्रदेश अवगाह के भी रहे है। आकाशाश अवगाह के भी रहे

[1] *कम्मपयडी बंधकरण अधिकार की गाथा १८-१९-२० की टीका में २८ प्रकार की वर्गणा स्वरूप की सविस्तार व्याख्या है।

है। इस तरह असख्यात् प्रदेश भी अवगाहते हैं। परन्तु एक वर्गणा की अवगाहना अंगुल के असख्य भाग से अधिक नहीं होती, और अनंती वर्गणाये सम्मिलित होने से अंगुल, हाथ, गाउ योजनादि मानवाली अवगाहना हो सकती है। इस प्रकार ये चार धर्मास्ति, अधर्मास्ति और और पुद्गलास्ति द्रव्य अचेतन, अजीव, ज्ञान रहित हैं।

॥ जीव का लक्षण ॥

* चेतना लक्षणोजीव. चेतना च ज्ञान दर्शनोपयोगी अनन्तपर्याय परिणामिक कर्तृत्व भोक्तृत्वादिलक्षो जीवास्तिकाय'।

अर्थ= 'चेतना' बोधशक्ति जिसमें हो उसे जीव कहते हैं। स्व और पर के परिणमन भाव को जो जाने वह जीव। सब द्रव्योंमें अनंत सामान्य और विशेष स्वभाव रहा हुआ है। उन द्रव्यों के विशेष स्वभाव के अवबोध (जानपना) को ज्ञान कहते हैं। और सामान्य स्वभाव अवबोध को दर्शन कहते हैं। ऐसे ज्ञान, दर्शन का उपयोगिता और अनंत पर्याय परिणामी, कर्ता, भोक्तादि अनंत शक्ति का पात्र हो, उसे जीव कहते हैं। उक्त च।

* (चेतना) इत्यादि चेतना लक्षण हो उसे जीव कहते हैं। ज्ञान, दर्शन की उपयोगिता को चेतना कहते हैं। पुनः वह अनंत पर्याय परिणामी है, कर्ता है और भोक्तादि लक्षणो वाला जीवास्तिकाय है।

नाणच दंशण चेव चरितच तवो तहा ॥
वीरिय उवओगोअ एव जीवस्स लक्खण ॥१॥
(उत्तराध्ययन)

चेतना लक्षण, दर्शन, चरित्र,तप वीर्यादि उपयोग सहित अनत गुण का पात्र, स्वस्वरप भोगी, अनवच्छिन्न, स्वस्थान को प्राप्त करने वाला, और उसका भोक्ता, स्वगुण, स्वकार्यशक्ति का भोक्ता परभाव का अकर्ता अभोक्ता, स्व क्षेत्र व्यापी, अनत आत्मसत्ता का ग्राहक, व्यापक और आनन्द रुप हो उसे जीव कहते हैं।

॥ कालस्य लक्षणम् ॥

*प चास्तिकायानां परत्वापरत्वे नवपुरादि लिगव्यावृत्तिवर्त्तनारूप पर्याय काल अस्य

*पचास्तिकाय में पूर्वस्य परत्व =पहला, पिछला नयापुद्गल स्कध की नव, पुरातन रूपयिनि लक्षण, वर्तना, पर्याय जो काल कहते हैं। प्रदेश भाव होने से इसे अस्तिकाय नहीं कहा। यह काल द्रव्य पचास्तिकाय में अ तरभूत पर्याय रुप है। और शेष पाच अस्तिकाय है उसमें धर्मास्ति, अधर्मास्तिकाय लोक प्रमाण असख्य प्रदेशिक है। एक जीव लोक प्रमाण असख्य प्रदेशी है। ऐसे जीव अनत है। आकाश अनत प्रदेश प्रमाण है। पुद्गल परमाणु स्वय एक होने पर भी अनेक प्रदेश बध हेतु मूल द्रव्य योग्यता होने से, अस्तिकाय कहा है। काल को उपचार मात्र से ही भिन्न द्रव्य कहा है। व्यवहार नय की अपेक्षा से सूर्य की गति के परिज्ञान से जो आवलिकादि का मान है उसका व्यवहार केवल मनुष्य क्षेत्र में ही है ॥

पाप्रदेशिकत्वेन् अस्तिकायत्वा भावः । प चास्ति-
कायान्त मूर्तपर्याय रूवंतपरप एते प चास्तिकाया ।
तत्र धर्मा धर्मा लोकप्रमाणा सख्याप्रदेशको, लोक-
प्रमाण प्रदेश एव एकजीव एते जीवा अप्यनन्ता,
आकाशो हि अनन्त प्रदेश प्रमाण', पुद्गल परमाणु
स्तस्य एकोऽप्यनेकप्रदेश बन्ध हेतु भूतद्रव्य युक्तत्वात्
अस्तिकायः, कालस्य उपचारेण भिन्नद्रव्यता उक्ता
सा च व्यवहारनयापेक्षया आदित्यगति परिच्छेद
परिमाण. काल समयचेत्रे एव एष व्यवहारकाल'
समयावलि कादिरुप इति ॥

अर्थ = 'काल द्रव्य' पंचास्तिकाय में परत्व अपरत्व = पहला पिछल का व्यवहार तथा नवीनता, जीर्णता करने में प्रकट है वृत्ति विसर्गी, उस वर्तना रूप पर्याय को काल कहते हैं। अप्रदेशी होने से इसे अस्तिकाय नहीं कहा। यह पचास्तिकाय में अन्तरभूत पर्याय परिणमनरूप है। 'तत्त्वार्थ वृत्ति में इसे धर्मास्तिकायादि का पर्याय कहा है।

पाच अस्तिकाय हैं (१) धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है, असख्यात प्रदेशी है, लोक के प्रदेश प्रमाण वाला है। (२) एव धमास्तिकाय भी (३) जीवास्तिकाय द्रव्य भी लोक प्रमाण असख्यात प्रदेशी है। तथापि अपनी अवगाह में व्यापक है। वे जीव अनंते हैं। अकृत शास्वत और

अखड द्रव्य है। सत् चिदानन्द मय है। परन्तु पर परिणामिक, पुद्गल ग्राही, पुद्गल भोगी होने से प्रति समय नवीन कर्मों को बाधता हुआ ससारी हो गया है। जब वह स्वरूपग्राही, स्वरूप भोगी होगा उस समय सब कर्मों से रहित होकर परम ज्ञान मयी, परम दर्शन मयी, परमानन्द मयी, सिद्ध, बुद्ध, अनाहारी, अशरीरी, अयोगी, अलेशी, अनाकारी, एकान्तिक, आत्यन्तिक, निप्रयासी, अविनाशी, स्वरूप सुख का भोगी, शुद्ध, सिद्ध होगा। इस वास्ते—'हे चेतन! यह परभाव, अभोग्य, सब जावों की उच्छिष्ट भूठन नर त्याज्य हैं।' तू स्वभाव भोगता का रसिक होकर स्वस्वरूप प्रकाश और अपने आनद को प्रकट करने के लिये निर्मलता को प्राप्त कर। (८) आकाशास्तिकाय लोकालोक प्रमाण एक द्रव्य अनन्त प्रदेशी है। (४) पुद्गलास्तिकाय द्रव्य परमाणु रूप अनन्त है। इस लिये पुद्गल द्रव्य अनन्त है।

प्रश्न—प्रदेश के सम्बन्ध बिना परमाणु द्रव्य को अस्तिकाय क्या कहा?

उत्तर—परमाणु एक प्रदेशी होने पर भी अनन्त परमाणुओं से मिलने की सत्ता युक्त है। इस योग्यता के कारण इसे अस्तिकाय कहा है और काल को केवल उपचार से भिन्न द्रव्य कहा है। व्यवहार नय की अपेक्षा से मनुष्य क्षेत्र में सूर्य की गति के परिमाण से समय, आवलिकादि का जो मान है, वह मनुष्य क्षेत्र के काल से प्रमाणित है। सूर्य है वह जीव और पुद्गल पिंड रूप है। गतिचार उसका धर्म है। इस लिये काल पिंडरूप से भिन्न द्रव्य सिद्ध नहीं होता। किन्तु व्यवहार से ही इस की सिद्धि है।

प्रश्न—प्रत्येक द्रव्य के अनन्त पर्याय हैं। उसमें किसी भी पर्याय में द्रव्यारोप नहीं मान कर केवल वर्तना पर्याय में ही द्रव्यारोप क्या किया ?

उत्तर—वर्तना पर्याय सब पर्यायों में और सब द्रव्यों में सहकारी (सहायक) है। इस लिये यह मुख्य पर्याय है। इसी कारण इस में द्रव्यारोप किया है, तथा अनादि काल से इसी तरह की व्याख्या है।

॥ सामान्य स्वभाव का लक्षण ॥

* एते पचास्ति काया सामान्यविशेष धर्ममया एव, तत्र सामान्यत स्वभाव लक्षण। द्रव्य व्यप्य गुणपर्याय व्यपकत्वेन स्वभाव तत्र एक, नित्य, निर वयम् अक्रिय, सर्वगत च सामान्य। नित्यानित्य निर वयु सावयव, सक्रियताहेतु देशगत सर्वगत च विशेष पदार्थ गुण प्रवृत्ति कारण विशेष । न सामान्य विशेष रहित न विशेष सामान्यरहित' ।

* वे पचास्तिकाय सामान्य विशेष धर्मयुक्त हैं। सामान्य स्वभाव का लक्षण—जो द्रव्य में व्याप्य हो, गुणपर्याय में व्यापक रूप रहे उस सामान्य स्वभाव कहते हैं। यह एक है, नित्य है, निरवयव, अक्रिय सर्वगत है। और जो नित्या नित्य देशगत, आदि विशेषपदार्थ गुण प्रवृत्ति का कारण हो उसे विशेष कहते हैं। न सामान्य विशेष से रहित है। न विशेष सामान्य रहित है। (उभय सहचारी हैं)।

॥ सामान्य स्वभाव स्वरूप ॥

* ते सामान्य स्वभाव, षट् ते चामी (१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) प्रमेयत्व, [५] सत्त्व, [६] अगुरुलघुत्वं । तत्र ।

१. नित्यत्वादिनाम् उत्तरसामान्यानां परिणामिकत्वादिनां

---

* उस सामान्य स्वभाव के मुख्य छ भेद हैं, और वे इस प्रकार हैं।

(१) अस्तित्व (२) वस्तुत्व (३) द्रव्यत्व (४) प्रमेयत्व (५) सत्त्व (६) अगुरुलघुत्वं ॥ (१) नित्यत्वादि उत्तर सामान्य स्वभाव, परिणामिकत्वादि विशेष स्वभावों के आधार भूत धर्म को अस्तित्वस्वभाव कहते हैं (२) गुणपर्याय के आधार भूत स्वभाव को वस्तु स्वभाव कहते हैं (३) अर्थ क्रिया के आधार को द्रव्यत्व स्वभाव कहते हैं, अथवा "उत्पाद, व्यय" में अर्थात् पर्यायों का उत्पन्न, प्रभव, आविर्भाव लक्षण जो शक्ति तथा व्ययी भूत याने पर्यायों का तिरोभाव, अभाव रूप शक्ति के आधार को द्रव्य स्वभाव कहते हैं। (४) स्व और परका ग्राहक वही प्रमाण है जिससे प्रमाणित किया जाय वही प्रमाण शब्द का वाच्य है। ज्ञान से अवबोध होने वाली वस्तु धर्म को प्रमेयत्व कहते हैं (५) उत्पादव्यय-ध्रुवयुक्त उसे सत्त्व कहते हैं (६) षट गुण हानि वृद्धि स्वभाव का अगुरुलघु है, उसे अगुरुलघु स्वभाव कहते हैं। ये छ स्वभाव सब द्रव्यों में पाये जाते हैं इसे सामान्य स्वभाव कहते हैं।

नि शेष स्वभावानामधार भूत धर्मत्वम् अस्तित्वम् ॥

२ गुणपर्यायाधात्व वस्तुत्वम ॥

३ अर्थक्रियाकारित्व द्रव्यत्वम्, अथवा उत्पादव्ययोर्मध्ये उत्पादपर्यायाणा जनकत्व प्रसवस्वाविर्भाव लक्षण व्ययी भूत पर्यायाणां, तिरोभाव्य भावरुपाया' शक्तेराधत्वम् द्रव्यत्व ॥

४ स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाणम्, प्रमीयते अनेनेति प्रमाण, तेन प्रमाणेन प्रमातु योग्य प्रमेय ज्ञानेन् ज्ञायते तद्योग्यतत्व प्रमेयत्वम ।

५ उत्पादव्ययुक्त सत्व ।

६ षट् गुण हानि वृद्धि स्वभावा अगुरुलघु पर्यायास्तदा धारत्वम अगुरूलघुत्वम् ।

एते षट् स्वभावा सर्वे द्रव्येषु परिणमति तेन सामान्य स्वभावा ॥

अर्थ—ये मूल छे सामान्य स्वभाव सब द्रव्यों में व्यापक भाव से रहते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व प्रमेयत्व, सत्व और अगुरुलघुत्व, ये छ स्वभाव सब द्रव्यों में परिणामिक रुप से (घुलेमिले) परिणमते (रहते) हैं [illegible]मी का सहयोग-सहायता नहीं है।

(१) अस्तित्व स्वभाव*— जो सब द्रव्यों में नित्यत्व, अनित्यत्व परिणामिकत्वादि जिसे उत्तर सामान्य अर्थात् विशेष स्वभाव कहते हैं उसके आधार भूत धर्म को अस्तित्व रूप सामान्य स्वभाव कहा है।

(२) वस्तुत्व[1] स्वभाव—गुण, पर्याय के आधार पदार्थ को वस्तुत्व कहते हैं।

(३) द्रव्यत्व स्वभाव— द्रव्य की स्व क्रिया जैसे— धर्मास्तिका चलन सहाय, अधर्मास्तिकी स्थिर सहाय, आकाशास्ति की अवगाह रूप जीव की उपयोगिता लक्षण क्रिया और पुद्गल की मिलन विखरन क्रिया इस पर्याय प्रवृति को अर्थ क्रिया कहते हैं। अर्थ की क्रिया के आधार धर्म को द्रव्यत्व स्वभाव कहते हैं।

पुनः द्रव्यत्व स्वभाव का प्रकारान्तर लक्षण कहते हैं = उत्पाद पर्याय की जो प्रभाव शक्ति अर्थात् आविरभाव लक्षण शक्ति और व्ययी भूत पयाय की तिरोभाव या अभाव रुप शक्ति के आधार भूत धर्म को द्रव्यत्व स्वभाव कहते हैं।

(४) प्रमेयत्व स्वभाव— 'स्व पर' अपने को और पुद्गलादि अन्य द्रव्यों को यथार्थपने जाने उसे ज्ञान कहते हैं, उनके पांच भेद हैं, ज्ञान

* अपने २ द्रव्य, गुण, पर्याय और प्रदेशों से सब अस्तित्व है।

[1] छहों द्रव्य एक क्षेत्र में एकसाथ एकत्रित रूप रहते हुये भी कोई सम्मिलित नहीं होता यह वस्तुत्व स्वभाव है।

के उपयोग में आने वाली जो शक्ति उसे प्रमेयत्व कहते हैं। प्रमेय पना सब द्रव्यों का मुख्य धर्म है, प्रमाण से प्राप्त हुई वस्तु का नाम ही प्रमेय है। गुण पर्याय सब प्रमेय रूप है। आत्मा के ज्ञान गुण में प्रमाण और प्रमेय दोनों धर्म हैं। वह आप ही अपने प्रमाण का कर्ता है। दर्शन गुण का प्रमाण ज्ञान गुण करता है क्योंकि दर्शन गुण है, वह सावयव (एक देश)है,सावयव विशेष ही होता है।वह ज्ञान से ही जाना जाता है,दर्शन गुण सामान्य धर्म का ग्राहक है,तथापि वह प्रमाण कहलाता है परन्तु प्रमाण में ज्ञान को ही ग्रहण किया है इसका कारण यह है कि दर्शन उपयोग व्यक्त= स्पष्ट प्रगट नहीं है। इस वास्ते प्रमाण में इस की गवेषणा नहीं की, प्रमाण के मुख्य दो भेद माने हैं। (१) प्रत्यक्ष (२) परोक्ष। तथा च रत्नाकरे।★

स्पष्ट प्रत्यक्षं परोक्षमन्यत्।

(५) *सत्व स्वभाव— उत्पाद, व्यय, ध्रुव ये तीनों परिणमन प्रति

★ जैसे— हीरा, पुखराज, स्फटिक और काच ये पदार्थ रूप वस्तु में सत्त्व है, तथापि उन सब में उज्वलता, चमक - दमक एवं प्रकाश की लहर जुदी २ है।यह गुण ज्ञानोपयोग से जाना जाता है इसे प्रमेयत्व कहते हैं। ज्ञानोपयोग से उनके गुण पृथक २ है वही प्रमेयत्व है।

* "उत्पादव्यय ध्रुव युक्त सत्" इति तत्वार्थ सूत्रे,भाषा-भार्षा को पं० सुखलालजी का तत्वार्थ, व्याकरणवालों की टीका देखना चाहिये, जिसमें उत्पाद व्यय सद्‌पना,एक है, वह एक द्रव्य है। आत्मा है वह

द्रव्य में परिणित हुआ करते हैं। इस परिणन भाव को सत् स्वभाव कहते हैं।

(६) अगुरुलघुत्व स्वभाव—षट् गुण हानि वृद्धि रूप ही अगुरुलघु पर्याय है। उसे अगुरुलघु स्वभाव कहते हैं। यह षट् गुण हानि वृद्धि सब द्रव्यों में सदा परिणमन हुआ करती है। जैसे (१) अनन्त भाग हानि (२) असंख्यात भाग हानि (३) संख्यात भाग हानि (४) संख्यातगुण हानि (५) असंख्यात गुण हानि (६) अनन्त गुण हानि। ये छः प्रकार की हानि तथा (१) अनन्त भाग वृद्धि (२) असंख्यात भाग वृद्धि (३) संख्यात भाग वृद्धि (४) संख्यात गुण वृद्धि (५) असंख्यात गुण वृद्धि (६) अनन्त गुण वृद्धि, यह छः वृद्धि। इस तरह छः २ प्रकार की हानि, वृद्धि अगुरुलघु कहलाती है। यह सब द्रव्य और प्रदेशों में परिणमन हुआ करती है। किसी समय अनन्त भागादि हानि रूप में और किसी समय अनन्त भागादि वृद्धि रूप में न्यूनाधिक पने प्राप्त होना ही अगुरुलघु भाव कहलाता है। इस बारह प्रकार के परिणमन भाव का तत्वार्थ सूत्र * पंचम अध्याय 'लोकाकाश' अधिकार की टीका में वर्णन है। उपरोक्त छः द्रव्य के मूल स्वभाव हैं वे सब द्रव्यों में पाये जाते हैं। द्रव्य का भिन्न पना और प्रदेश का भिन्न पना अगुरुलघु के भेद से ही होता है। इस लिये ये छः सामान्य स्वभाव हैं। यह द्रव्यास्तिक धर्म है तथा इसका परिणमन पर्यायास्तिक धर्म है।

---

*तत्वार्थ सूत्र अध्याय पाचवें की टीका में यथा—
आकाशोऽपि अगुरुलघु पर्यायाणामनुसमयमुत्पादोऽस्त्येव ॥

प्रश्न—पर्याय का पिंड है वही द्रव्य है, द्रव्यपना इस से भिन्न नहीं है। जैसे—धुरी, चक्र, डांडी, जुड़ा आदि को गाडी कहते हैं। यह गाडी इन अवयवों से भिन्न नहीं है ?

उत्तर—ज्ञानादि गुणमें पर्याय समुदायरूप से अवस्थित रहती है। परन्तु द्रव्य से पर्याय की उत्पत्ति है। अर्थ-क्रियात्मक समुदाय रूप वस्तु को द्रव्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि द्रव्याश्रित और पर्यायाश्रित उभय सम्मिलित होने से द्रव्य कहलाता है। उक्तच सम्मतितर्के ॥

दव्वा पज्जव रहिआन, पज्जवा दव्वओवि उत्पत्ति।

अर्थ—द्रव्य पर्याय रहित नहीं होता, पर्याय की उत्पत्ति द्रव्य से है।

॥ विशेष स्वभाव ॥

* तत्र अस्तित्व उत्तरसामान्य स्वभावगम्य ते

चोत्तरसामान्य स्वभावा अनन्ता अपि व्यक्तेन्

त्रयोदश १ अस्तित्वस्वभाव, २ नास्तित्व स्वभावः

३ नित्यस्वभाव ४ अनित्यस्वभाव, ५ एकस्वभावः

६ अनेक स्वभाव, ७ भेदस्वभाव ८ अभेदस्वभाव,

---

* उपरोक्त अस्तित्वभाव उत्तर सामान्य स्वभाव मयी है। ये उत्तर सामान्य "विशेष" स्वभाव अनन्ते हैं तथापि तेरह प्रकार यहां कहा है। मूल सुगम है।

९ भव्यस्वभावः १० अभव्यस्वभाव ११ वक्तव्यस्वभावः
१२ अवक्तव्य स्वभावः १३ परम स्वभावः इत्येवरूप
वस्तु सामान्यानन्तमयम् ॥

अर्थ—अस्तित्व उत्तर सामान्य स्वभाव मयी है, वस्तु में उत्तर सामान्य * स्वभाव अनन्ते है, परन्तु अनेकान्त जयपताकादि ग्रन्थो में तेरह प्रकार कहा है उसे संक्षेप से यहाँ लिखते हैं। नाम मूल पाठ में सुलभ है और विवेचन आगे सविस्तार लिखेंगे।

॥ अस्तिस्वभाव का लक्षण ॥

꠱ स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन व्यापकव्यापकादि-
सम्बन्धिस्थितानां स्वपरिणामात् परिणामान्तरागमनहेतुः
वस्तुनः सद्रूपता परिणतिः अस्तिस्वभावः।

अर्थ—पूर्व क्रमानुसार पहिले अस्तिस्वभाव का लक्षण बताते हैं "स्व" द्रव्यादि चारों का रूप बताते हैं।

(१) अपने गुण पर्याय के समुदायिक आधार को स्व द्रव्य कहते हैं।

* उत्तर सामान्य स्वभाव को विशेष स्वभाव कहते हैं।

꠱ स्व "द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव" चारों धर्मों के व्यापकादि सम्बन्ध से स्थित हो स्व परिणाम से परिणामान्तर जिस की गति न हो इस प्रकार वस्तु की सद्रूपता परिणति को अस्ति स्वभाव कहते हैं।

(२) अपने प्रदेश रूप सब पर्याया की अवस्था का अवगाह स्थान वही उसका स्व क्षेत्र है।

(३) पर्याय के कारण का उत्पाद्, व्यय रूप वर्तना यही उसका स्व काल है।

(४) अपने सब गुणपयाय क कार्य धर्म को स्वभाव कहते हैं। इन चारा को जीव में घटाते हैं।

जैसे—१ अपने गुण पयाय का उत्पादक हो वह स्व द्रव्य, २ असंख्य प्रदेश है वह स्वक्षेत्र, अथवा जानना, देखनादि जितने गुण हैं उसके पयाय का जो क्षेत्र वह स्वक्षेत्र, ३ पर्याय के कार्य कारणों का उत्पाद, व्यय वह स्वकाल, ४ अतीत अनागत वर्तमान का परिणमन वह स्वभाव है। यथा-ज्ञान गुण क पर्याय का कार्य धर्म -बोधत्व, वेतृत्व परिच्छेदकत्व विवेचकत्व, इत्यादि यह स्व स्वभाव चारों प्रत्येक द्रव्य में अस्ति रूप स्वभाव है। स्व परिणाम से परिणामान्तर नहीं जाते। अपने स्वभाव से च्युत (त्याग) नहीं होना ऐसी वस्तु की सद्रूपता परिणति (अवस्था) को अस्तिस्वभाव कहते हैं। यह अस्तित्वभाव सब द्रव्यों में अपने अपने गुण पयाय का समझना चाहिये। जैसे—जीव है वह अजीव रूप में, एक जाव है वह अन्य जीव रूप में, एक गुण है वह अन्य गुण रूप में कदापि परिणत नहीं होता।

ज्ञानगुण में दर्शनगुण का नास्तिता है, और ज्ञानगुण की अस्तिता है। एक गुण के अनन्त पर्याय हैं। वे पर्याय धर्मत्व रूप से सरीखे हैं। एक पर्याय [illegible] दूसरे पर्याय में नहीं है। और दूसरे पर्याय का धर्म

पहिले पर्याय में नहीं है। ये सब अपने अपने धर्म से अस्तित्व रूप हैं। यह पहिला अस्तिस्वभाव कहा।

॥ नास्ति स्वभाव लक्षण ॥

* अन्यजातीयद्रव्यादिना स्वीयद्रव्यादिचतुष्टयतया
व्यवस्थितानाम् विवक्षिते परद्रव्यादिक सर्वदा-
भावाविच्छिन्नानां अन्यधर्माणाम् व्यावृत्तिरूपो भावः
नास्तिस्वभाव यथा जीवे स्वीया
ज्ञानदर्शनादयो भावा. अस्तित्वे
परद्रव्यस्थिता अचेतनादयो भावा नास्तित्वे
सा च नास्तिता द्रव्ये अस्तित्वेन वर्तते घटे
घट धर्माणा अस्तित्व पटादिसर्व पर द्रव्याणां
नास्तित्व एव सर्वत्र।

---

* विजातीय द्रव्य के स्व द्रव्यादि चारा अपने गुण पर्याय में अवस्थित हैं। विवक्षित द्रव्यादि में पर द्रव्यादि का सर्वदा अभाव है इस अभाव को ही नास्ति स्वभाव कहते हैं। जैसे जीव में अपने ज्ञान-दर्शनादि भावों की अस्तिता है, और परद्रव्यादि में रहे हुए अचेतनत्वादि भावों की नास्तिता है। और वह नास्तिता द्रव्य में अस्तिरूप में है। जैसे—घट में घट धर्म की अस्तिता है और पट आदि पर धर्म की [illegible]ता है। इसी प्रकार सब पदार्थों में समझ लेना चाहिये।

अर्थ—"दूसरा नास्ति धर्म" अन्य जातीय द्रव्य हैं वे अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभाव रूप में अवस्थित हैं। विवक्षित द्रव्य में उसका सर्वथा अभाव है। उस अस्तिता अभाव को नास्तिस्वभाव कहते हैं। जैसे—जीव में ज्ञानदर्शनादि अपना जो स्व स्वभाव है, वह अस्तिरूप है और परद्रव्य के अचेतनादि स्वभाव उस ही जीव में नास्तिता है। वह परधमापेक्षी नास्तिता जीव द्रव्य में अस्तिरूप है। घट में घट धर्म है इसलिये घट में घट धर्म की अस्तिता है। परन्तु पट आदि पर द्रव्य की नास्तिता है। क्योंकि वह धर्म घट में नहीं है। उसे नास्ति स्वभाव कहते हैं। तथाच भगवती सूत्रे —

अत्थित अत्थित्ते परिणमयी, नात्थित नत्थित्ते परिणमयी ॥

॥ तथाच स्थानाग सूत्रे चौभगी ॥

सियअत्थि, सियनत्थि,

सियअत्थिनत्थि, सियअवत्तव्व ॥

"पुन विशेषावश्यक सूत्र में भी कहा है॥ यथा —"

सदसद् विशेषणाश्रो, भवहेउजहछियश्रोवलभाश्रो ॥

नाणफलाभावाश्रो मिच्छादिठि स अन्नाणम् ॥१॥

जो वस्तु का अस्ति, नास्ति पना जाने वह सम्यग ज्ञानी और जो न जाने वह मिथ्यात्वी। उपरोक्त गाथा की टीका यह है।

स्याद्वादोपलक्षित वस्तु स्याद्वादश्च सप्तभगी परिणाम एके कस्मिनद्रव्येगुणेपर्याये च सप्त सप्तभगा भवन्त्यत्र अत

अनन्तपर्याय परिणते वस्तुनि अनन्तः सप्तभंगयोभवन्ति ।। इति रत्नाकरावतारिका म कहा है —द्रव्य, गुण, पर्याय में अपने अपने रूप भेद से सात भाग होते हैं। इस सप्त भंगी को ही स्याद्वाद कहते हैं।

।। सप्त भंगी स्वरुप ।।

७ तथाहि—स्वपर्यायै· परपर्यायै रूभयपर्यायै सद्भावेना सद्भावेनोभ यभावेन् वार्पितो विशेषतः कुम्भ अकुम्भः कूम्भाकूम्भो वा अवक्तव्यो भयरुपादिभेदो भवति सप्त भगी प्रतिपाद्यते इत्यर्थः ओष्ट ग्रीवा कपाल कुक्षिबुध्नादिभि. स्वपर्यायै· सद्भावेनार्पितविशेषत कूम्भकूम्भो भण्यते सन् घट इति प्रथम म गो भवति एव जीवः स्वपर्यायै., ज्ञानादिभि अर्पितः सन् जीवः ।

७ जैसे—स्वपर्याय के सद्भाव से पर पर्याय के असद भावसे और उभय पर्याय के सद्,असद भाव से विकल्पपूर्वक स्थापना करने से कुम्भ, अकुम्भ, कुम्भाकुम्भ वा अवक्तव्य उभय रुपादि भेदोंसे सप्तभंगी होती है। जैसे–ओष्ट,ग्रीवा,कपाल,कुक्षि, बुध्नादि स्वपर्यायों में अस्ति रुप सद्भावपने अर्पित (स्थापित) कुम्भको कुम्भ कहते हैं। इति घट स्वरुप प्रथम भंग होता है इसी प्रकार जाब ज्ञानादि स्वपर्यायों में अपित को जीव कहते हैं। (मूल में स्यत् पद नहीं है)।

अर्थ—सप्त भंगी स्व द्रव्य की अपेक्षा से है, परकी अपेक्षा से नहीं। स्व विषयी परिणमन वही अस्ति धर्म है। और पर धर्म का असद्भाव यह नास्ति धर्म है। इसलिये यह सप्त भंगी वस्तु धर्म है। विशेषावश्यक से सप्तभंगी का स्वरूप लिखते हैं—एक विवक्षित वस्तु "स्वपर्याय" अपने पर्याय से "सद्भाव" अस्तिरूप है, और पर धर्म असद्भाव यह नास्ति धर्म है। जो अस्ति और नास्ति धर्म है, वह वस्तु में सम (एक) काल में होता है। वस्तु में अनेक धर्म हैं वे सब धर्म केवली को एक समय समकाल में भास मान होते हैं परन्तु वचन (उच्चारण) रूप से अनुक्रम ही कहे जा सकते हैं, और छद्मस्थ के श्रद्धा में तो वे सब धर्म समकाल सद्दहण रूप है। तथापि उपयोग असंख्यात समयी है। अनुक्रम पूर्वापर साधक है, इसलिये सप्तभंगी भासरूप है। वस्तु सत्तकिति की श्रद्धा में, केवली के भास में समकाल है। वही श्रुतज्ञानी के भाषण में क्रमपूर्वक है, क्योंकि भाषा अनुक्रम से बोली जाती है। इस वास्ते स्यात् पद पूर्वक प्ररूपणा करने से वह सत्य है। अन्यथा दूषित होती है, इसी कारण स्यात् पद पूर्वक सप्त भंगी ★ कही गई है।

★ सप्त भंगी का रूप—(१) स्यात् अस्ति घट (२) स्यात् नास्तिघट (३) स्यात् अवक्तव्यघट (४) स्यात् अस्तिनास्तिघट (५) स्यात् अस्ति-अवक्तव्यघट (६) स्यात् नास्तिअवक्तव्य घट (७) स्यात् अस्तिनास्ति अवक्तव्य घट। इन सात भांगों में प्रथम के तीन भांगे सकलादेशी कहलाते हैं और शेष चार भांगे विकला देशी कहे जाते हैं।

द्रव्य गुण, पर्याय, स्वभाव सत्र द्रव्यों में सात भागें होते है। उसे दृष्टांत पूर्वक समझाते हैं। जैसे होठ, गला, काठा, कपाल, तला, कुक्षि, पट, वुध्न इत्यादि स्वपर्यायों से घट, अस्तिरूप हैं। उस में स्वपर्याय अस्तिरूप स्थापित करने से घट, घट रूप से सत् है। परंतु नास्ति धर्म की अस्तिता रखने के लिये स्यात् पद पूर्वक कहना उचित है, इसलिये स्यात् अस्तिघट यह प्रथम भंग ॥

जीवादि द्रव्य सब एक जातीय द्रव्य है। तथापि संसारी एक न र में जैसा ज्ञानादि गुण हैं, वैसा दूसरे में नहीं है। इस लिये सब द्रव्य स्वधर्मपन का अस्ति है। पर धर्म में नास्ति है। इस प्रकार स्यात् अस्ति जीव यह प्रथम (पहला) भागा है।

॥ दूसरा भग ॥

तथा—पटादिगतैस्त्वक्त्राणादिभि परपर्यायैरसद्भावनापित अविशेषित अक्रु भो भवति सर्वस्यापि घटस्य परपर्यायरसत्व विवक्षायाममनूघट एव जीवो ऽपि मूर्त त्वादि पर्यायै असत् जीव इति द्वितीयो भग ।

अर्थ— 'पट' वस्त्र में त्वक् – चम, त्राणादि = रक्षादि पर्याय है। वह घट में नहीं है। किंतु पट में ही है। घट में इस पर्याय का नास्तिता है। उन पर पर्यायों की असद्भाव विवक्षा = अपेक्षा से घट नास्ति स्व-भाव है। इति स्यात् नास्तिघट, इसी प्रकार जीव में भी मूर्तित्व, अचेत-नादि पर्याय न होने से इति स्यात् नास्ति जीव। क्योंकि परपर्याय का [illegible]तिता स्वभाव सत्र द्रव्य में है।

॥ तृतीय भंग ॥

यथा—सर्वार्थाः स्वपरो भय पर्यायैः सद् भावासद्भावाभ्यां सत्वासत्वाभ्यामर्पितो युगपद्वक्तुमिष्टो ऽवक्तव्यो भवति, स्वपरपर्यायसत्वासत्वाभ्यां सर्वैकलाप्रमाकविकल्प शब्देन सर्वस्यापि तस्य वक्तुमशक्यत्वादिति, एवं जीवस्यापि सत्वासत्वाभ्यामेकसमयेन वक्तुमशक्यत्वात् स्यात् अवक्तव्यो जीव इति तृतीयो भंग । एते त्रय सकलादेश सकल जीवादि वस्तु ग्रहणपरत्वात् ॥

अर्थ—यद्यपि सब पदार्थ अपने सद्भाव पर्याय से अस्ति और पर पर्याय से नास्ति, अत स्वपर्याय की अस्तिता और पर पर्याय की नास्तिता उभय धर्म समकालिक है। तथापि एक समय में कह नहीं जा सकते, इन दोनो धर्मों का सांकेतिक शब्द भी, एक समय में उच्चारण नहीं कर सकते। वस्तु में उभय (दोनो) धर्म एक समय समकाल (एक साथ) अस्तिरूप है। उसे अवबोध करने के लिये ही स्यात् शब्द पूर्वक स्यात् अवक्तव्य ऐसा वचन कहा। कदापि किसी को ऐसा अवबोध न हो जाय कि वचन से सर्वथा अगोचर ही है, इस दोष को निवारण करने हेतु ही स्यात् शब्द का प्रयोग किया गया है। इति स्यात् अवक्तव्यघट । इसी तरह जीव में भी अस्ति, नास्ति उभय धर्म एक समय नहीं कहा जा सकता। इसलिये स्यात् अवक्तव्य जीव, ये तीनों भांगे सकलादेशी कहे जाते है रूप से ग्रहण करते हैं।

॥ चतुर्थ भग ॥

अथ चत्वारो विकलादेश. ॥ तत्र एकस्मिन् देशे स्वपर्यायसत्वेन् अन्यत्र तु परपर्यायसत्वेन सदच असदच भवति घटो ऽघट श्च एव जीवोपि स्वपर्यायै. सन् पर्यायै असन् इति चतुर्थो भग ।

अर्थ— 'अव चार विकालदेशा' । वस्तु के एक देश माही को विकल दशी कहते हैं। जैसे- वस्तु के एक देश में स्वपर्याय का अस्तिपना और पर पर्याय का नास्तिपना अर्पण किया जाय उस समय वस्तु सद्, असद् रूप पने हैं। अथात् घट है और घट नहीं। इसी तरह जीव स्वपयाय से सत्, पर पर्याय से असत् वह एक ही समय में अस्ति, नास्ति रूप है परतु कहने के लिये असख्याते समय चाहिये। वास्ते स्यात् पद पूर्वक चौथा भग स्यात् अस्ति, नास्ति कहा।

॥ पाचवां भग ॥

तथा— एकस्मिन देशे स्वपर्यायै. सद्भावेन् विवक्षित. अन्यत्र तु देशे स्वपरो भय पर्यायै. सत्वासत्वा भ्या युगपद सकेतिकेन शब्देन् वस्तु विवक्षित सन् अव — क्तव्य रूप पचमो भ गो भवति। एव जीवोपि चेतन त्वादिपर्यायै सन् शेषै अवक्तव्य इति।

अय– एक देश में स्वपर्याय अस्ति रूपमे है और अन्य=दूसरे देशमें स्व पर दोना पयाय अस्तिनास्ति युगपत असक्केतिक शब्द से विवित्तत हो, ऐसी अवस्था में अस्ति अवक्तव्य नामक पाचवा भग होता है। ऐसे ही जीव में भी चेतनादि पर्याय के अस्तित्व और शेष पर्यायों से अवक्तव्य है। इति स्यात् अवक्तव्य पचम भग ॥

॥ छट्ठा भग ॥

तथा—एक देशे पर पर्यायै रसद्भावेनार्पितो विशेषत' अन्यैस्तु स्वपर पर्यायै सद्भावा सद्भावाभ्याम् सत्वामत्वाभ्या युगपद सांकेतिकेन शब्देन वक्तु विवक्षितकुम्भो ऽ मन् वक्तव्यश्च भवति। अकुम्भो वक्तव्यश्च भवतीत्यर्थ देशे तस्या कु मत्वात् देशे अवक्तव्यादिस्ति पष्टो भग ,

अय— एक देश में परपर्याय असद्भाव = नास्तिता स्थापित की जाय,और अन्य प्रन्श में स्व पर पर्याय से अस्तिनास्ति युगपत एक समय अउच्चार रूप होने से कहा नहीं जा सक्ता। और, बिना कहे श्रोतागण को ज्ञान कैसे हो। इस वास्ते स्यात् पद से अन्य भागों की अपेक्षा रखते हुए तथा सब धर्मों की समकालीनता जानने के लिये स्यात् नास्ति अव-क्तव्य नामक छट्ठा भङ्ग कहा। एवं जीव भी पर पर्याय से नास्ति तथा स्व पर उभय पर्याय से अवक्तव्य पूर्ववत् समझ लेना। इति स्यात् नास्ति अव क्तव्य रूप छट्टा भङ्ग कहा।

॥ सप्तम् भ ग ॥

तथा—एक देशे स्वपर्याये सद्भावेनार्पित' एकस्मिन्
देशे परपर्याये रसद्भावेनार्पितः अ यस्मितु देशे
स्वपरोभयपर्याये सद्भावा सद्भावाभ्यां
युगपदेकेन् शब्देन् वक्तु निवचित' सन्
असन् अवक्तव्य भवति इति सप्तमो भगः
एतेन् एकस्मिन् वस्तुन्यर्पितानर्पितन् सप्तभगी उक्ता ॥

अर्थ—एक देश में स्वपर्याय से अस्तिता अर्पित की जाय और एक देश में पर पर्याय से नास्तिता,उक्त दोनों पर्याय एक समय एक साथ रहते हैं तथापि वचन से नहीं कहे जा सकते इस अपेक्षा स स्यात् अस्ति, नास्ति अवक्तव्य यह सातवा भग कहा। यह सप्त भंगी अर्पित * अनर्पि अर्थात् मुख्यता-गौणता की अपेक्षा से कही।

॥ जीव में सप्त भ गी ॥

※ तत्र- जीव स्वधर्मे ज्ञानादिभि' अस्तित्वेन् वर्तमान
तेन स्यात् अस्तिरूप प्रथम भ ग तत्र स्वधर्मा आस्तिपद गृहीता

* "अर्पितानर्पित सिद्धे" तत्वार्थ सूत्र अ० ५ सूत्र ३१ स देखो।

※ जीव स्वधर्मज्ञानादि पयाय से अस्ति है। इस वास्ते स्यात् अस्ति रूप प्रथम भागा, यहा स्वधम अस्ति पद से शेष नास्तित्वादि तथ अवक्तव्य धर्म का स्यात् पद से ग्रहण होता है।

शेषानास्तितादयोधर्मा अवक्तव्यादच स्याद् पदेन् सगृहीताः

अर्थ—स्वरूप से सप्तभगी कहते हैं। एक द्रव्य में, एक गुण में, एक पर्याय में और एक स्वभाव में नित्य हमेशा सात सात भागे हुआ करते हैं।

(स्याद्वाद रत्नाकरावतारिका में कहा है—यथा)

एकस्मिन् जीवादौ अनन्तधर्मा पेचया

सप्तभगी नामानन्त्यम् । इति वचनात् ।

"तथा च सुयग्डांगे" । गाथा-"अत्थिजीवे" इत्यादि

(१) गुण पर्याय के समुदाय का आधार ही जीव का स्व द्रव्य है, (२) असख्य प्रदेश या अगुरुलघु का मान स्वक्षेत्र है (३) उत्पाद, व्यय का भिन्न परिणमन स्वभाव स्वकाल है (४) अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, उपयोग अव्याबाद, अरुपी, अशरीरी, परमसुख, परम मार्दव, आर्जव, स्वरुप भोगी प्रमुख स्वस्वभाव है। तथा अनन्त ज्ञेय, ज्ञायक पने जीव द्रव्य अस्ति है। इस प्रकार जीव के ज्ञानादि गुण, समस्त ज्ञेय ज्ञायक रुप शक्ति स अनन्त हैं। अविभाग रुप हैं। एक एक पर्याय अविभाग में सब अभिलाप, अनभिलाप का ज्ञायक पना है। जैसे मति, श्रुति, अवधि और मन पर्याय प्रत्येक ज्ञान के अविभाग पर्याय जुदे जुदे हैं। केवल ज्ञान क पर्याय भी जुदे हैं।

"विशेषावश्यक" गणधरवाद में कहा है—कि जो आवर्ण योग्य वस्तु भिन्न है। उसका आवरण भी भिन्न है। उसे क्षयोपशमादि भेद से परोक्ष या देश से जानते हैं। और सम्पूर्ण आवर्ण के क्षय होने से प्रत्यक्ष

रूप जाने हैं। केवल ज्ञान मय भाषा का प्रत्यक्ष दायक है। उसके प्रकट होने पर दूसरे ज्ञान की प्रवृत्ति है। तथापि भिन्न पने नहीं। केवलज्ञान का ज्ञान पना कहा जाता है। कई आचार्यों का मत है कि ज्ञान के अविभाग पर्याय सब एक जाति के हैं। उन अविभाग पर्यायों में घटादि जानने की शक्ति अनेक प्रकार की है। उसी में की जो शक्ति प्रकट होती है उसके मति ज्ञानादि भिन्न भिन्न नाम हैं और सब आवर्णों के क्षय होने से एक केवल ज्ञान रहता है। छद्मस्थ को ज्ञान का भास है, ऐसी व्याख्या भी है।

जीव अपने ज्ञानादि स्वगुण पर्याय में ज्ञापकत्व, परिच्छेदकत्व, चेतृत्वादि रूप से अस्ति है। इस प्रकार सब गुणों में स्वधर्म की अस्तिता है। और अविभाग रूप पर्याय के समूह की एक प्रवृत्ति को गुण कहते हैं। वह स्वकार्य करण धर्मपने अस्ति है। एव छहों द्रव्यों में स्वस्वरूप पने अस्तिता है। और नास्तित्वादि छहों धर्मों की सापेक्षता रखने के लिये स्यात् पद पूर्वक बोलना चाहिये, इस वास्ते स्यात् अस्तिनामक प्रथम भग कहा। अस्ति धर्म है। वह नास्ति सहित है। स्यात् शब्द है, वह अस्ति धर्म में नास्ति आदि धर्मों की सत्यता प्रकट करने वाला है।

॥ दूसरा भग ॥

* तथा-स्वजातीयन्यद्रव्याणां तद्धर्माणां च

* स्वजातीय अन्य द्रव्यों का तथा उनमें रहे हुवे धर्मों का तथा विजातीय पर द्रव्यों का तथा उन में रहे हुवे धर्मों का जीव में सर्वथा अभाव होने से नास्ति धर्म है। इस लिये स्यात् नास्ति रूप दूसरा भागा होता है। इस में धर्म की नास्तिता नास्ति पद से ग्रहण करके शेष अस्तितादि धर्म को स्यात् पद से ग्रहण किया। इति द्वितीय भग॥

विजाति पर द्रव्याणा तद्धर्मांणा च जीवे
सर्वथैव अभावात् नास्तित्व तेन् स्यात्
नास्तिरूपो द्वितियो भग अत्र पर धर्मांणा
नास्तित्व नास्तिपदेन् गृहीत्व शेषा
अस्तित्वादय स्यात् पदेन् गृहीता इति ॥

अर्थ—"द्वितीय भागा" किसी एक जीव के स्वरूप को लक्ष में रख कर उसके विषय में कहा जाता है। उससे अन्य जो सिद्ध, ससारी जीव हैं उसके गुण, पयाय, अस्तित्वादि धर्म की निवक्षित जीव में नास्तिता है। तथा अजीव द्रव्य और उसके जडतादि धर्म की जिस जीव की विवक्षा की जा रही है उसमें नास्तिता है। जैसे अग्नि में दाहक धर्म है। उसके समीप जो दूसरा अग्नि का कण पडा है उसमें भी दाहकता है। तथापि उसका दाहक धर्म पूर्व वाले से भिन्न है। अग्नि का दाहक पन कणाये में नहीं है। कणिये का दाहकत्व अग्नि में नहीं है। इसी प्रकार एक जीव का ज्ञानादि गुण वह दूसरे में नहीं है। यदि उपयोग का सदृशता होने से वस्तु को सदृश रूप जानते हैं तो भी वे अपने अपने उपयोग रूप गुण के पर्याय से जानते हैं। एक द्रव्य का गुण पर्याय दूसरे द्रव्य में नहीं आता जाता। इस वास्ते स्वजातीय अन्य द्रव्य का द्रव्य गुण पर्याय व धर्मपने की विवक्षित जीव में नास्ति है। इसी प्रकार गुण में भी अन्य द्रव्यादि की नास्तिता है। तथा पयाय के अविभाग में भी अन्य द्रव्यादि की नास्तिता है। तथा पर्याय के अविभाग में

भी अन्य स्वजातीय अविभाग कार्य का कारणता की नास्तिता है। जीव पर द्रव्य, पर क्षेत्र, परकाल, परभावपने नास्तिस्वभाव, होने से नास्तिता भी जीव में रही हुइ है। इसलिये स्यात्, नास्ति जीव यह भाग उसमें पाया जाता है। यह केवल एक नास्तिपने की व्याख्या करते हुये शेष अस्ति आदि धर्म की उपेक्षा न हो अथात् अस्तित्व परिणामिकत्व, ज्ञायकत्व आदि अनन्त धर्म की सापेक्षता रखने के लिये ही स्यात पद का प्रयोग किया गया है। जिससे अन्य धर्म का भास प्रकट होता रहे, अर्थात् सत्यता प्रकट हो एव स्यात् नास्ति द्वितीय भग।

* केषाचिद्धर्माणा वचनागोचरत्वेन तेन स्यात् अवक्तव्यः इति तृतीयो भ ग वक्तव्य धर्म सपेक्षार्थं स्यात् पद ग्रहणम् ॥

अर्थ- 'तीसरा भग' वस्तु में कितेक धर्म ऐसे हैं जो वचन द्वारा कहे नहीं जा सकते, उसे अवक्तव्य कहते हैं। उसे केवली भगवान अपने ज्ञान से जानते हैं। तथापि वे वचन उच्चारण से कहे नहीं सकते, ऐसे धर्म की अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य है। वह सर्वथा अवक्तव्य ही नहीं है कई एक धर्म वस्तु में वक्तव्य भी है। उसकी सापेक्षता रखनेके लिये स्यात् पद पूर्वक स्यत् अवक्तव्य यह तीसरा भङ्ग कहा है।

---

* वस्तु में कइ धर्म ऐसे हैं जो वचन द्वारा नहीं कहे जा सकते इस लिये स्यात् अवक्तव्य नामक तीसरा भङ्ग होता है। वक्तव्य की सापेक्षा रखने के लिये स्यात् पद ग्रहण किया गया है।

तत्र अस्तिकथने असंख्येया नास्तिकथने ऽप्य
संख्येयाः समया. वस्तुनि एक समये अस्तिनास्ति
स्वभावौ समवर्तमानौ तेन स्यात अस्तिनास्ति रूप
चतुर्थ भंग।

अर्थ-चौथा भङ्ग,अस्ति शब्द को उच्चारण करने के लिये असंख्याता समय चाहिये, इसी प्रकार नास्ति शब्द उच्चारण करने के वास्ते भी असंख्याता समय चाहिये, और वस्तु में अस्तिनास्ति दोनों धर्म एक समय में एक साथ प्रवर्तमान हैं। इन दोनों धर्मों का एक साथ ज्ञान कराने के लिये, और जो अस्ति है, वह नास्ति न हो और जो नास्ति है, वह अस्ति न हो, इसकी सापेक्षता के लिये स्यात् अस्ति नास्ति नामक यह चौथा भंग कहा।

तत्र अस्तिनास्ति भावा. सर्वे वक्तव्या एव न अवक्-
तव्या इति शङ्कानिवारणाय स्यात अस्ति अवक्तव्य
इति पंचमो भंग। स्यात नास्ति अवक्तव्य इति
षष्ट अत्र वक्तव्या भावा स्यात पदे ग्रहीता।

अर्थ—यहां शङ्का समाधान करते हैं कि अस्तिनास्ति भाव सब वक्तव्य ही हैं? किंतु अवक्तव्य नहीं है? इस शङ्का को निवारण करने के लिये स्यात् अस्ति अवक्तव्य यह पांचवा भङ्ग कहा। इसी प्रकार स्यात् नास्ति अवक्तव्य छट्ठा भङ्ग। यहां वक्तव्य भाव स्यात् पद से ग्रहण किया है।

* तत्र अस्तिभावाः वक्तव्या तथा अवक्तव्या', तथा नास्तिभावा' वक्तव्या' अवक्तव्या' एकस्मिन् वस्तुनि, गुणे, पर्याये' एकसमये परिणमनमाना' इति ज्ञापनार्थं स्यात् अस्तिनास्ति अवक्तव्य इति सप्तमो भंग । अत्र वक्तव्य मात्रान्ते स्यात पदे सगृहीता इति अस्तित्वेन् अस्तिधर्मो नास्तित्वेन् नास्तिधर्मो युगपदुभयस्वभावत्वेन वक्तुमशक्यत्वात अवक्तव्यः स्यातपदे च अमत्यादिनामेव नित्यानित्याद्यनेकान्त सग्राहकम् ।

अर्थ— अस्ति और नास्ति स्वभाव वक्तव्य तथा अवक्तव्य दोनो रूप से है । वे एक समय एक वस्तु में, एक गुण म एक पयाय में सम

* अस्ति स्वभाव वक्तव्य और अवक्तव्य है । इसी प्रकार नास्ति स्वभाव भी वक्तव्य, अवक्तव्य है । इन दोना धर्मो का एक वस्तु में, एक गुण में, एक पयाय मे एक समय एक साथ परिणमन होता है । इस अव बोध के लिये स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य यह सातवा भंग कहा । यह वक्तव्यादि भावों का स्यात पद से ग्रहण किया है ।

अस्तिपने में अस्ति धर्म और नास्तिपने म नास्तिधर्म दोनों एक सम उभयरूप कहने में अनर्थ होने से अवक्तव्य है । और स्यात् पद अस्ति त नित्या नित्यत्व आदि अनेकान्त संग्राहक है ।

काल अर्थात् एक साथ परिणमन होते हैं। इस अवबोध के वास्ते स्यात् अस्तिनास्ति अवक्तव्य सातवा भ ग कहा। यहा अस्ति है, वह नास्ति न हो, और नास्ति है वह अस्ति न हो, तथा वक्तव्य, वक्तव्य रुप परिणत न हो जाय, इसका ज्ञान कराने के लिये स्यात् पद ग्रहण किया। अस्तिपने के भाव को अस्तिधर्म, नास्तिपने के भाव को नास्तिधर्म ग्रहण करता है। उक्त दोनों धर्म समकालीन होने से उच्चारण अशक्य है, (असमर्थ) है। इसलिये अवक्तव्य है। जो स्यात् पद हैं, वह अस्तिधर्म नास्ति धर्म, अवक्तव्य धर्म, नित्यत्व, अनित्यत्व प्रमुख अनेकात संग्राहक 'अवबोधक' है। जैं :—

अस्तिधर्म है वह नित्यपने, तथा अनित्यपने, एकपने व अनेकपने, भेद पने या अभेदपने इत्यादि अस्तिधर्म में अनेकातता है। उसे स्याद पद-सूचक करता है क्योंकि वस्तु के एक गुणमें अस्ति है। इसी प्रकार नास्ति त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, वक्तव्य, अवक्तव्य, भयत्व, अभयत्वादि अनेकात स्वरुप को स्याद्वाद कहते हैं। उसका साकेतिक वाक्य ही स्यात् पद है।

आत्म द्रव्य में स्व धर्म की अस्तिता है। पर धर्म की नास्तिता है। स्व गुण का परिणमन अनित्य है। वही गुण रूप में नित्य है। तथा द्रव्य पिंड रुप से एक है। और गुण, पर्याय रुप से अनेक है। आत्मा कारण, कार्य रुप से प्रति समय जो नवीनता प्राप्त करता है उसे भवन धर्म कहते हैं। भवन धर्म प्राप्त आत्मा, अपने निज स्वभाव का परित्याग नहीं करता। उसे अभवन धर्म कहते हैं। इत्यादि अनेक धर्म परिणति

आत्मा है। इसी प्रकार षट् द्रव्य के अवबोध धारण कर हेयोपादेयपने श्रद्धा, भास को प्राप्त करे उसे सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन कहते हैं। और आत्मा अशुद्धता पाकर पर कर्ता, परभोक्ता, परग्राहकतापन है, उसे दूर करने का उपाय (साधन) करता हुआ, आत्मा अपने मूलधर्म में रहे ऐसी रुचि और उद्यम करना श्रेयस्कर है।

स्यात् अस्ति,स्यातनास्ति,स्यात अवक्तव्य रूपास्त्रया. सकलादेश सम्पूर्णवस्तुधर्मग्राहकत्वात, मूलतः अस्तिभावाः अस्तित्वेन् सन्ति, नास्तित्वेन् (न) सन्ति एव सप्तभगा । एव नित्यत्वसप्तभगी अनित्यत्व सप्तभ गी एव सामान्यधर्मोणाम्, विशेषधर्मोणाम्, गुणाना, पर्यायाणाम् प्रत्येक सप्त भ गी तद्यथा।

अर्थ— स्यात् अस्ति स्यात्नास्ति, स्यात् अवक्तव्य ये तीनों भंग वस्तु के सम्पूर्ण रूप को ग्रहण करते हैं। इसे सकलादेशी कहते हैं। शेष रहे चार भंग ये विकलादेशी हैं। वस्तु के एक देश ग्राहक है। वस्तु में जो अस्तिस्वभाव है, वह अस्तिरूप है। वह नास्तिरूप नहीं है। और जो नास्तिस्वभाव है, वह नास्तिरूप है। वह अस्तिरूप नहीं।

प्रश्न— वस्तु में नास्तिपना अस्तिपने कहते हो, तो नास्तिपने अस्तिपने को ना क्यों करते हो?

उत्तर— नास्तिता अस्तिरूप है। अर्थात नास्तिता नास्तित्वपने सत् तरूपता का निषेध

नहीं किया है। असत का निषेध है।

इसी प्रकार नित्यत्व, अनित्यत्व, सामान्य और विशेषादि धर्मों की सप्तभंगी तथा गुण, पर्याय प्रत्येक में भिन्न भिन्न है। उसी को अगले सूत्र से बताते हैं।

> ज्ञानज्ञानत्वेन् अस्ति दर्शनादिभि स्वजातिधर्मै
> अचेतनादिभि विजातिधर्मै नास्ति,एव पचास्ति-
> काय प्रत्येकेऽनन्तसप्तभंग्यो भवन्ति ।

अर्थ— ज्ञानगुण, ज्ञानगुणपने अस्ति है। दर्शनादि, स्व जातीय धर्म से, और अचेतनादि पर द्रव्य व्यापी सब विजाती धर्मों की नास्तिता है। इसी प्रकार पंचास्तिकाय में अर्थात् प्रत्येक अस्तिकाय में अनंत भंगियां होती हैं। सप्तभंगी को ही स्याद्वाद कहते हैं। सब द्रव्यों में उसकी उपयोगिता है।

॥ अस्तिता, नास्तिता अभाव में दूषण ॥

> अस्तिता ऽ भावे गुणाभावात् पदार्थे शून्यतापत्ति.
> नास्तितामावे कदाचित् परभावत्वेन् परिणमनात्
> सर्वशंकरतापत्ति व्यंजकयोगे सत्ता स्फुरति तथा
> अमताया ऽ पि स्फुरणात् पदार्थानाम नियतता
> प्रतिपत्ति तत्वार्थे "तद्भावाव्ययनित्यम्"

अर्थ— यदि वस्तु में अस्ति, नास्ति धर्म न माना जाय तो इससे कौन सी हानि और वस्तु में कौन कौन दूषण आते हैं, उसे समझाते हैं। वस्तु

में अस्ति स्वभाव न मानने से गुण, पर्याय का अभाव होगा और गुण पर्याय के अभाव में पदार्थ शून्यता प्राप्तहोती है ।

यदि जो वस्तु में नास्ति स्वभाव न मानें तो, किसी समय वही वस्तु पर रूप (वस्तु) पने या परगुनपने प्राप्त हो जायगी । और जीव भी किसी समय अनात्मपने हो जायेगा । अजीव जीवपने हो जायेगा । इस से सर्व शङ्करता दोष प्राप्त होगा । (व्यञ्जक०) संयोग और स्वभाव से सत् धर्म ही स्फुरायमान होता है । जो धर्म नास्ति रूप है, उसकी सत्ता स्फुरायमान नहीं होती । यदि नास्ति धर्म न माने तो असत्तापने स्फुराय-मान हो जायगा । और जब असत्ता स्फुरायमान होगी तब द्रव्य अनिश्च-यात्मक हो जाएगा, इसलिये सब भाव अस्ति, नास्ति मयी हैं । व्यञ्जकता दृष्टान्त पूर्वक समझाते हैं । जैसे— नए = कोरे घड़े में सुगन्धता की सत्ता है, पानी के सहयोग से वह वासना प्रकट होती है । वस्त्रादि में उसकी सत्ता नहीं है । इसलिए उसकी प्रकटता नहीं है । एवं सर्वत्रापि भाव नियम ॥

तत्त्वार्थ में अपने स्वभाव से नष्ट न हो उसे नित्य कहते हैं । यह तीसरा नित्यत्व स्वभाव है । इसके दो भेद हैं 'यथा— ।'

॥ नित्य स्वभाव ॥

ॐ एका अप्रच्युतिनित्यता द्वितीय परपर्यनित्यता तथा द्रव्याणा ऊर्ध्वप्रचय तिर्यग प्रचयत्वेन् तदेवद्रव्यामिति

ध्रुवत्वेन नित्यस्वभाव नवनव पर्याय परिणमनादिभिः उत्पत्ति व्ययरूपोऽनित्य स्वभाव उत्पतिव्ययस्वरूप-मनित्यम् ॥ १ ॥

अर्थ—नित्यस्वभाव के दो भेद हैं। (१) अप्रच्युति नित्यता, (२) परपय नित्यता। अप्रच्युति नित्यता उसे कहते हैं जो द्रव्य उर्ध्वप्रचय, तिर्यग्‌ प्रचयपने प्राप्त होता हुआ भी, स्वरूप पने वही द्रव्य है। ऐसा ध्रुवता रुप ज्ञान हो अथात् तीनो काल में सदा वही है। तथा अपने मूल स्वभाव को कभी न पलटे = न छोड़े उसे अप्रच्युति नित्यता कहते हैं। इस नित्यता में पूर्वोक्त उर्ध्व प्रचय, तियर्ग्‌ प्रचय कहा उसे समझाते हैं।

जो पहले समय द्रव्य की परिणति थी वह दूसर समय नवीन पर्यायों के उत्पन्न होने से और पूर्व पर्याय के व्यय= नाश सर्व पर्यायों की परावृत्ति होने पर भी, यह द्रव्य वही है, ऐसे ध्रुवता आत्मक ज्ञान को उर्ध्वप्रचय कहते हैं। यह उर्ध्व= उपर का समय माही है। इस वास्ते उर्ध्वप्रचय कहा।

तियक्‌ प्रचय= जीव सब अनते हैं, और जीवत्व सत्ता से सब तुल्य= सदृश रुप हैं। तथापि वे जीव भिन्न २ हैं इस भिन्न सत्ता रुप

* एक अप्रच्युतति नित्यता, दूसरी परपर नित्यता। द्रव्य उर्ध्वप्रचय तियग प्रचय परिणत होते हुवे भी, स्व द्रव्य पने ध्रुवहो उसे अप्रच्युति नित्य स्वभाव कहते हैं।

नवीन नवीन पर्यायादि परिणमन भाव, उत्पत्ति, व्यय स्वरुप को अनित्य स्वभाव कहते हैं। उत्पत्ति व्यय= विनाश स्वभाव को अनित्य कहते हैं।

ज्ञान को तिर्यग प्रचय कहते हैं। उर्ध्वप्रचय अर्थात समयान्तर अनेक उत्पाद, व्यय के परिवर्तन = पलटने पर भी यह जीव वही है, ऐसा जो ज्ञान वही नित्यस्वभाव धर्म (लक्षण) है, तथा कारण में कार्य उत्पन्न हुआ, इस का ज्ञान प्राप्त होना यह भी नित्य स्वभाव का धर्म है।

परपर नित्यता = जिस कारण से जो कार्य उत्पन्न हुआ उसका ज्ञान, तथा पुन दूसर कारण से दूसरा कार्य हुआ इस का ज्ञान, इस प्रकार पूर्वापर नवीन नवीन कार्यों के उत्पन्न होने पर भी जीव वही है ऐसा जो ज्ञान प्राप्त हो, और परम्परा रूप मन्तनी चलती रहे उस परपर नित्यता कहते है । जैसे— प्रथम शरीर क कारण से राग था, वही राग धन, वस्त्रादि के कारण से तत्प्रत्ययि राग अर्थात् कारण की नवीनता म राग की नवीनता हुइ। परन्तु राग रहित आत्मा नहीं हुआ, ऐसी प परम्परा उसको परम्पर नित्यता कहते हैं। इसका दूसरा नाम सन्तति नित्यता भी है।

अनित्य स्वभाव = कारण योग वा किसी निमित्त से उत्पन्न होने वाले नवीन नवीन पर्यायों की परिणमनता अर्थात् पूर्व पर्याय के व्यय (नाश) और अभिनव पर्याय के उत्पाद को अनित्य स्वभाव कहते हैं "उत्पत्ति, विनाश भाव को अनित्य स्वभाव कहते है।"

॥ पुनः नित्यम् ॥

* तत्र नित्यत्व द्विविध कुटस्थ प्रदेशादिना, परिणामिकत्व ज्ञानादिनाम् । तत्रोत्पाद व्ययानेक प्रकारी तथापि किंचिल्लिख्यते ॥

* अन्य ग्रन्थ में नित्य स्वभाव के दो भेद कहे है (१) कुटस्थ, प्रदेशादि भेद से (२) परिणामिक, ज्ञानादि गुणों के भेद स । इन दोनों भे के उत्पाद, व्यय रूप अनेक भेद है । तथापि (किंचित०) उनमें कुछ लिखते है ।

अर्थ—अन्यग्रन्थों में नित्य स्वभाव के और भी दो भेद बताये हैं। कुटस्थ और परिणामिक। कुटस्थ नित्यता उसे कहते हैं कि जीव के असंख्याते प्रदेश ये सख्यापने तथा क्षेत्र * अवगाह का पलटन-परिवर्तन नहीं होता और गुण का अविभाग पर्याय यह सब कुटस्थ नित्य रूप है।

परिणामिक नित्य—ज्ञानादि गुण सब परिणामिक नित्य हैं। क्योंकि गुण का धर्म ही ऐसा है। जो समय २ पर कार्य रूप में परिणत होता रहता है। न्याय का होना यही परिणामिक धर्म है। यही नीति है। यदि ज्ञान को कुटस्थ नित्य रूप मे मानते हैं, तो पहिले समय जो ज्ञान मे नाना वही नान पना सदा "सवदा" रहेगा। परन्तु ऐसा नहीं होता। ज्ञेय-पदार्थ नवीन भाव से नित्य परिणमन होते हैं। उस नवीन अवस्था का ज्ञान अर्थात् ज्ञान पना नहीं हो सकता। कूटस्थ मानने से पहले समय की ही अवस्था रहने मे ज्ञान की असमर्थता हो जायगी। ज्ञेय=घनादि पदार्थ जैसे पलटते हैं उसको जाने यही यथार्थ ज्ञान है। प्रति समय नवीन भावों को जानना ही ज्ञान का परिणामिक नित्य स्वभाव है। ज्ञायकता शक्ति रूप से यह नित्य है और परिणामी पलटन स्वभाव से यह अनित्य है। ऐसे नित्य अनित्य स्वभावी सब गुण हैं और सब द्रव्यों में अपनी क्रिया का कारण रूप होता है। किंचित् दूसरी प्रकार से और भी लिखते हैं।

* क्षेत्रावगाह शरीर प्रमाण से परिवर्त है। यहा नहीं पलटता किस अपेक्षा से लिखा है।

★ विस्रसा प्रयोग भेदात् द्विभेदो सर्वद्रव्याणा चलन सह कारादिपदार्थे क्रिया कारण भवत्येव।
तत्र चलनसहकारित्व कार्यं धर्मास्तिकाय द्रव्यस्य प्रतिप्रदेशस्य चलन सहकारी गुणाविभाग उपदानकारणम्, कार्यस्यैव कार्यपरिणमनात्, तेन कारणत्व पर्यायव्यय' कार्यत्वपरिणामस्योत्पादः गुणत्वेन ध्रुवत्व प्रतिसमय कारणस्यापि उत्पादव्ययौ कार्यस्याप्युत्पादव्ययावित्य नेकान्तजयपताका ग्रन्थे, एव सर्व द्रव्येषु सर्वेषा गुणाना स्व स्वकार्य कारणता ज्ञे य इति प्रथमव्याख्यायनम्॥

★ विस्रसा, प्रयोग भेद से दो प्रकार हैं। सब द्रव्यों में चलन सहकारादिरूप क्रिया के कारण से होता है। चलन सहकारीपने का कार्य धर्मास्तिकाय के प्रति प्रदेश में रहा हुआ है वही चलन सहकार गुण विभाग उपादान कारण है और वह कारण ही कार्य रूप परिणत होने से उस कारणत्व पर्याय का व्यय और कार्यत्व पर्याय का उत्पाद होता है। तथा चलन सहकारित्व गुण रूप से ध्रुव है। "अनेकान्त पताका ग्रन्थ में कहा है"—कि प्रति समय कारण का भी उत्पाद व्यय होता है और कार्य का भी उत्पाद व्यय होता है। इसी प्रकार द्रव्य में सब गुणों का स्वकार्य कारण रूप उत्पाद व्यय समझ लेना यह उत्पाद व्यय की पहिली व्याख्या॥

अर्थ—पुनः नित्य स्वभाव दो प्रकार का होता है। विस्रसा और प्रयोगसा, वह सन द्रव्या में चलन सहायकादि धर्म जो वस्तु गत रहा है, उसकी क्रिया के कारण से होता है। जैसे—धर्मास्तिकाय का चलन सहकारीपना मुख्य धर्म (कार्य) है, अधर्मास्तिकाय का स्थिरसहायपना मुख्य कार्य है,आकाश द्रव्य का अवगाह दान मुख्य कार्य है जीव का जान पना चेतना रूप उपयोग ही मुख्य कार्य है,और पुद्गल का वर्ण,गंध,रस, स्पर्श मुख्य कार्य हैं। इत्यादि स्वकार्य का उत्प न होना उसे भवन धर्म कहते हैं। और भवन धर्म को ही उत्पाद कहते हैं। उत्पाद व्यय सहित होता है। तत्वार्थ ग्रन्थ की टीका में भी भवन धर्म का स्वरूप ऐसा ही कहा है। वह उत्पाद व्यय पूर्वोक्त दो प्रकार है। प्रयोगसा प्रयोग्य * जन्य होता है। और विस्रसा स्वाभाविक होता है।

विस्रसा—स्वाभाविक। जैसे धर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्यों में अपने अपने चलन सहकारादि गुणों की प्रवृत्ति रूप अर्थ क्रिया होती है। और वह चलन सहकारित्व धर्म धर्मास्तिकाय क प्रति प्रदेश में रहा हुआ है। वहा चलन सहकारादि गुण विभाग उपादान कारण है। और वही कार्यरूप में परिणित होता है। इसीलिये कारणता का व्यय कार्यता

---

* प्रयोगसा का स्वरूप यह है कि जीव मे गृह्यमाण पदार्थ कारण, कार्य रूप में प्रति समय उत्पाद व्यय सहित होता है, अर्थात् जीव के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले व्यापार को प्रयोग जन्य कहते हैं, उसी का नाम प्रयोगसा है।

का उत्पाद और चलन सहकारित्व धर्म ध्रुव है। इसी प्रकार अधर्मा काय में स्थिरसहाय गुण की प्रवर्तना, पुद्गलास्तिकाय में पूरण ग आदि गुण की प्रवर्तना और जीव द्रव्य में ज्ञानादि गुण की प्रव होती है। "अनेकान्त जय पताका ग्रन्थ" में भी लिखा है कि गुण प्रति समय कारणपना नवीन नवीन उत्पन्न होता है। अर्थात् कारण का उत्पाद व्यय है। ऐसे कारणवत् कार्यता का भी उत्पाद व्यय है है। यह उत्पाद व्यय की प्रथम व्याख्या कही॥

॥ उत्पाद व्यय का द्वितीय व्याख्या ॥

तथाच सर्वेषा द्रव्याणा परिणामिकत्व पूर्वपर्यायव्यय· नवपर्यायोत्पाद एव मप्युत्पादव्ययौ द्रव्यत्वेन ध्रुवत्व इति द्वितीय भग ।

अर्थ—सब द्रव्यों में परिणामिक भाव से पूर्व पर्याय का व्यय नवीन पर्याय का उत्पाद एसा उत्पाद व्यय समय समय होता है। त द्रव्यपन ध्रुव है। यह उत्पाद व्यय की दूसरी व्याख्या॥

॥ पुन. तृतीय व्याख्या ॥

प्रतिद्रव्य स्वकार्यकारण परिणमन प्रवृत्ति रूपा परिणस्ति. अनन्ता· अतीता एका वर्तमाना अन्या अनागता योगतारूपास्ता वर्तमाना अतीता भवन्ति

अनागत' वर्तमाना भवन्ति, शेषा. अनागता कार्ययोग्यतासन्नता लभन्ते, इत्येवरूपावत्वाद्व्ययौ गुणत्वेन ध्रुवत्व इति तृतीय' । अत्र केचित् कालापेक्षया परप्रत्ययत्व वदन्ति, तदसत् कालस्य पचास्तिकाय पर्याय त्वेनेवऽऽगमे उक्तत्वादिव परिणति' स्वकालत्वेन वर्तनात् स प्रत्यक्ष एव तथा कालस्य भिन्नद्रव्यत्वेऽपि कालस्य कारणता अतीतानागत वर्तमान भवन तु जीवादि द्रव्य--स्यैव परिणतिरिति ॥

अर्थ—प्रत्येक द्रव्य में स्वकार्य कारण रूप परिणमन "परावृत्ति" = पलटन रूप है। ऐसी परिणती अतीत काल मेंअनन्ती हो गई,वर्तमान काल में एक है। और दूसरी अनागत योग्यता रूप अनन्ती है। वह वर्तमान परिणती अतीत होती है। अर्थात् उस परिणती में वर्तमानता का व्यय अतीतपने का उत्पाद और परिणती रूप से ध्रुव है। और अनागत परणति जो वर्तमान होती है। वह अनागतपने का व्यय, वर्तमान का उत्पाद और अस्ति रूप से ध्रुव है। शेष अनागत कार्य की योग्यता जो दूर था वह समीपता को प्राप्त होती है। अर्थात् दूरता का व्यय और समीपता का उत्पाद, तथा अतीत में दूरता का उत्पाद और समीपता का व्यय, इसी प्रकार सब द्रव्यों मे अतीत, वर्तमान, अनागत रूप अनुक्रम प्रवृत्ति हुआ करती है। यह द्रव्य का स्वकाल रूप परिणमन है। यह उत्पाद व्यय की तीसरी व्याख्या कही।

कई आचार्य काल की अपेक्षा ग्रहण कर इस उत्पाद व्यय को पर प्र्यय कहते हैं। यह उन का कहना अयुक्त है। क्योंकि काल पचास्ति काय की पर्याय है। और उत्पाद व्यय रूप परिणती द्रव्य का स्वधर्म है। इस लिये वस्तु के परिणाम भेद रूप ही वास्तविक काल है। उन स्वकार्य रूप से काल कहा है। यदि काल को भिन्न द्रव्य मानते हैं तो भी कार्य है वह कारण रूप है। और अतीत, अनागत, वर्तमान रूप परिणता यह जीवादि द्रव्य का धर्म है। इसलिये उत्पाद व्यय भी स्वाभाविक ही है॥

॥ पुन. चतुर्थ व्याख्या ॥

तथाच सिद्धान्तमाति केवलज्ञानस्य यथार्थ नेयभायकत्वात् यथा ज्ञेया धर्मादिपदार्था तथा घटपटादिरूपा वा परिणमी तथैव ज्ञाने भासनाद् यस्मिन् समये घटस्य प्रतिभास. समयान्तरे घटध्वसे कपालादिप्रतिभास तदा ज्ञाने घटप्रतिभासध्वस कपालप्रति भासोत्पाद ज्ञानरूपत्वेन ध्रुवत्वमिति तथा धर्मास्तिकाय यस्मिन् समये सख्येय परणुनाम चलनसहकारिता अन्यसमये अस रख्येयानाम् एव सख्येयत्व सहकारिताव्यय' असख्येयान्त सहकारिता उत्पाद चलन सहकारित्वेन ध्रुवत्व, एवम् अधर्मादिस्वापिज्ञेयम्, एव सर्वगुण प्रवृत्तिषु इति चतुर्थ।

अथ—सिद्धात्मा में केवलज्ञान गुण सम्पूर्ण रूप से प्रकट है। वे जो ज्ञेय जिस समय जिस भाव में परिणत होता है, उसी समय यथारूप से जानते हैं। ऐसा केवलज्ञान का ज्ञायकपना है। जैसे-धर्मादि द्रव्य और घट पटादि ज्ञेय पदार्थ जिस प्रकार से परिणमन करते हैं, उसी रूप में केवलज्ञान जानता है। जिस समय घट ज्ञान था वह समयान्तर घट ध्वंस होने पर कपाल ज्ञान हुआ, उस समय घट प्रतिभास ध्वंस, कपाल प्रतिभास उत्पाद और ज्ञान रूप से ध्रुव, इसी प्रकार दर्शनादि सब गुणों का प्रवर्तन समझ लेना।

तथा धर्मास्तिकाय में जिस समय संख्यात् परमाणुओं का चलन सहकारीपना था, वही समयान्तर * असंख्येय परमाणु चलन सहका-

* धर्मास्तिकाय में जिस समय संख्यात परमाणु का चलन सहकारी पना था वह समयान्तर असंख्येय परमाणुओं का चलन सहकारीत्व करे वहां संख्यात सहकारीता का व्यय और असंख्येय सहकारीता का उत्पाद बताया यह उत्पाद व्यय वास्तवरूप से तो पर प्रत्ययी हुआ क्योंकि इसमें पुद्गल परस्पर सापेक्षता है। और 'उत्पाद व्यय युक्त सत्' यह कथन शास्त्रकार का स्वावलम्बी है। अलोकाकाश में उपरयुक्त कथन नहीं घट सक्ता यह केवल बालजीवों को समझाने के लिये बाह्यरूप से कथन है। वास्तविक रूप तो यह अकथनीय है। इसका यथा स्वरूप केवलज्ञान गम्य है। वस्तु में कई गुण ऐसे हैं, जो रूपी होने पर भी वचन से नहीं कहे जा सक्ते जैसे-घी का स्वाद, आम का मधुर पन आदि अनुभव गम्य है। इसी ग्रन्थ में आगे नय अधिकार की व्याख्या करते हुवे षट्गुण हानि वृद्धि रूप अगुरुलघु को वचन अगोचर कहा है। यथा—"स्वभाव पर्याय अगुरुलघु विकारास्तेन द्वादश प्रकारा षट्गुण हानि वृद्धि रूपा अवाग्गोचरा"॥

रित्वपने को प्राप्त हुआ। यहां सन्धेय परमाणु चलन सहकारीपने का उत्पाद तथा चलन सहकारी गुणपने ध्रुव है।

धर्मास्तिकाय में भी उत्पाद, व्यय की प्रवृत्ति इसी प्रकार होता है। एक द्रव्य में अनन्ते गुण हैं, उन म उत्पाद, व्यय की प्रवृत्तिया हुआ करता हैं।

प्रश्न—धर्मास्तिकाय के चलन सहकारित्व गुण में अनन्त जीव और अनन्त परमाणु की सहकारिता है। जब यह गुण संख्यात असंख्यात जीव परमाणु को चलन सहकारिपताने प्रवर्तमान होता है उस समय वह कौनसा गुण है जो अप्रवर्तमान रूप में रहा हुआ है ?

उत्तर—जो निरावर्ण द्रव्य है, उसके गुण अप्रवर्तमान नहीं रहते किन्तु जितने जीव, पुद्गल चल भाव के लिये उपस्थित हो, उनके लिये धर्मास्तिकाय के सब गुण चलन सहकारित्वपने प्रवर्तमान होते हैं। क्योंकि अलोकाकाश में अवगाह जीव, पुद्गल नहीं है। तथापि अवगाह दान गुण प्रवर्तमान है ही। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय म भी न्यूनाधिक जीव, पुद्गल प्राप्त होने पर भी गुण क सब पर्याय प्रवर्तमान होते हैं। यह गुण पर्याय में उत्पाद व्यय की चौथी व्याख्या कही॥

॥ पांचवीं व्याख्या ॥

तथा सर्वे पदार्था अस्तिनास्तित्वेन् परिणामिन.
तत्रास्ति भावाना स्वधर्माणां परिणामिकत्वेन्
उत्पादव्यौ स्त', नास्ति भावाना पर द्रव्यादिना

परावृतौ नास्ति भावाना परावृत्तित्वेनाप्युत्पादव्ययौ
ध्रुवत्व च अस्तिनास्तिद्वयौ इति पचम' ॥

अर्थ—सब "पदार्थ" द्रव्य अस्ति नास्ति रूप उभय स्वभावी हैं। अस्ति भाव अपने धर्म से है, जिस समय ज्ञान गुण घट को जानता है, उस समय घट ज्ञान की अस्तिता है। और घट ध्वस होने पर कपाल ज्ञान हुआ उस समय घट ज्ञान के अस्तित्व का व्यय और कपाल ज्ञान की अस्तिता का उत्पाद, यह अस्तिता का उत्पाद, व्यय कहा। इसी प्रकार नास्तिता का भी उत्पाद व्यय समझ लेना। जो पहिले घट नास्तिता थी वह घट ध्वस होने पर कपाल नास्तिता हुई इस प्रकार से पर द्रव्य के पलटने से नास्तिता पलटती है, और स्वगुण परिणामिक कार्य के पलटने से अस्तिता पलटती है। जहां पलटन याने परिवर्तन भाव है, वहां उत्पाद व्यय होता ही है। इस प्रकार द्रव्यों में सामान्य स्वभाव जो कहे हैं, उन सब को जिस पदार्थ में जैसा सभव हो वैसा जिन आगम को अबाधित पने उपयोग पूर्वक उत्पाद व्यय का स्वरूप धरा लेना और वस्तु में अस्ति, नास्तित्व धर्म ध्रुव रूप है, यह पांचवीं व्याख्या कही ॥

॥ षष्ठा व्याख्या। (अगुरुलघु) ॥

तथा पुन अगुरूलघुपर्यायाणा षट् गुणहानिवृद्धिरूपाणा प्रतिद्रव्यपरिणमनात् नानाहानिव्यये वृद्धिउत्पाद , वृद्धिव्यये हान्युत्पाद , ध्रुवत्वचागुरूलघु पर्यायाणा। एव सर्व द्रव्येषु ज्ञेयम्, "तत्त्वार्थवृत्तौ" आकाशाधिकारे, यत्रप्यवगाहकजीव

पुद्गलादिर्नास्ति तत्राप्यगुरूलघुपर्यायवर्तनयाऽऽश्यत्वे चानि पर
भ्युपेयाः ते च अन्ये अन्ये च भवन्ति अन्यथा ता नोत्पाद-
व्ययौनापेक्षिकानिति न्यून एव सल्लक्षणं स्यात् इति पष्ठ. ॥

अर्थ—सब द्रव्य और पर्यायों में अगुरूलघु धर्म होता है। प्रत्येक द्रव्य के प्रति प्रदेश में अगुरुलघु स्वभाव धर्म अनन्त है। यह द्रव्य व उसके प्रदेश तथा पर्याय में षट् गुण हानि वृद्धि रूप से परिणमन होता है। जैसे परमाणु में वर्णादि की हानि वृद्धि होती है। उसी प्रकार अगुरूलघु की भी हानि वृद्धि हुआ करती है। जब हानि का व्यय होता है तब वृद्धि का उत्पाद होता है। या वृद्धि का व्यय होता है तब हानि का उत्पाद होता है। परन्तु अगुरूलघु धर्म ध्रुव है—इसी प्रकार सब द्रव्यों में समझ लेना।

तत्वार्थ की टीका में अलोकाकाश के अधिकार में लिखा है। यदि अलोकाकाश में अवगाह जीव पुद्गलादि द्रव्य नहीं है, परन्तु वहां भी अगुरूलघु पर्याय अवश्य है। और अनित्यता आदि भी स्वीकार करते हैं और अगुरूलघु धर्म पर्याय तथा प्रदेश में भिन्न २ रूप से होता है। जैसे—पूर्व समय अगुरूलघु पर्याय का व्यय और दूसरे समय नवीन अगुरूलघु पर्याय का उत्पाद है। यदि इस प्रकार उत्पाद, व्यय नहीं मानते हैं अर्थात् इसकी अपेक्षा नहीं करते हैं तो अलोक में सत् लक्षण की न्यूनता होती है। "उत्पाद व्यय ध्रुवता संयुक्त सत्" लक्षण कहा है। और द्रव्य सत् लक्षण युक्त ही होता है। इस लिये अगुरूलघु का परिणमन सब द्रव्य, सब पर्याय और सब प्रदेशों में होता है। यह अगुरूलघु का उत्पाद व्यय कहा। इति छट्ठा अधिकार।

॥ सातवीं व्याख्या ॥

'तथा भगवतीटीकाया' तथा च अस्तिपर्यायत सामर्थ्य-
रूपा विशेषपर्यायास्ते चानन्तगुणास्ते प्रतिसमय-
निमित्त भेदेनपरावृत्तिरूपाः तत्र पूर्व विशेष पर्याया-
णानाश अभिनव विशेष पर्यायायाणामुत्पाद पर्या-
यत्व ध्रुवत्व इत्यादि सर्वत्र ज्ञेय इति सप्तम

नय— भगवती सूत्र की टीका में कहा है कि अस्ति पयाय म
विशेष पयाय ना समथरप है, वह अनन्त गुणी है। ज्ञानादि गुण क अवि-
भाग प्याय को अस्ति पर्याय कहा है। उस प्रत्येक पयाय में समस्त ज्ञय
जानने की सामथ है। उसे विशेष पर्याय कहते हैं यथा— महा भाष्ये॥

यावतो ज्ञायास्तावतो ज्ञानपर्याया

इसे सामथ पर्याय कहते हैं। सामर्थ पर्याय ज्ञेय की निमित्तता से है।
ज्ञेय का अनेक प्रकार से उत्पाद व्यय हुआ करता है। उसी प्रकार विशेष
पर्याय भी पलटती है। यह प्रति समय निमित्त भेद के परिवर्तन होन म
पूर्व विशेष पयाय का विनाश अभिनव विशेष पयाय का उत्पाद हुआ
करता है और पर्याय रूप से अनित्ता ध्रुव है। इस प्रकार गुण पयाय
का उत्पाद, व्यय का ध्रुवपना कहा। इति सप्तम अधिकार॥

॥ नित्यता अभाव में दूषण ॥

* नित्यताऽभावे निरन्वयता कार्यस्य भवति कारणा
भावता च भवति।

* नित्यता के अभाव में काय की अन्वयता नहीं होती और
कारणता का अभाव होता है।

अर्थ— पूर्वोक्त सब पदार्थों में नित्य, अनित्य भी स्वभाव रहा

भी प्रश्न— नित्य, अनित्य विरोधी भाव एक समय एक साथ एक वस्तु में कैसे रह सकते हैं जैसे— शीत और उष्ण एक साथ रह ही नहीं सकते ?

उत्तर— इसका निराकरण तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में यह किया है कि अन्य दार्शनिकों के समान जैन दर्शन वस्तु के स्वरूप को अपरिवर्तनशील अर्थात् किसी प्रकार के परिवर्तन किये बिना सदा एक रूप, जिसमें अनित्यता की सम्भावना ही न हो। ऐसी कुटस्थ नित्यता नहीं मानता कि जिस में स्थिरत्व, अस्थिरत्व विरोधी भाव उत्पन्न हो, और न जैन दर्शन वस्तु को एकान्त क्षणिक ही मानता है। यदि वस्तु को क्षणिक ही मानकर स्थिरांश न माने तो उपरोक्त दोष प्राप्त हो सकता है। अर्थात् अनित्य परिणामी होने से नित्यता असंभव होती है, परन्तु जैन दर्शन का यह मन्तव्य नहीं है। वे किसी भी वस्तु को एकांत कुटस्थ याने अपरिवर्तन शील, नित्य अथवा केवल परिणामित्व भाव वाली न मान कर परिणामी नित्य अर्थात् परिवर्तनशील नित्य मानते हैं। इसलिये जितने पदार्थ = द्रव्य हैं, वे अपनी जाति में स्थिर रहते हुये निमित्त पाकर परिवर्तन रूप उत्पाद, व्यय को प्राप्त होते हुये भी, स्वरूपानुयायी पने ध्रुव हैं। सांख्य दर्शन वाले केवल प्रकृति अर्थात् जड पदार्थ को ही परिणामी नित्य मानते हैं। परन्तु जैन सिद्धान्तकारों का यह मन्तव्य जड, चैतन्य दोनों के लिये एकसा है। अर्थात् वे जड चैतन्य दोनों को परिणामी नित्य मानते हैं। इसलिए उपरोक्त दोष की सम्भावना नहीं रह सकती।

हुआ है। ऐसा कोई पदार्थ = द्रव्य नहीं है। जिस में नित्य अनित्य स्वभाव न हो, यदि द्रव्य में नित्यता न हो या नित्यता नहीं माने तो कार्य का अन्वय नहीं हो सकता है कि यह कार्य एसा द्रव्य का है। नित्यता मानने से ही द्रव्य में कार्य का अन्वय हो सकता है। यदि द्रव्य को केवल नित्यपने ही मानते हैं, तो गुण का कार्य है, वह भी द्रव्य का कहलायगा और गुण है वह द्रव्य नहीं है। इसलिए द्रव्य में नित्यता के अभाव से कारण पने का अभाव होता है। इसलिए द्रव्य में नित्य स्वभाव मानना चाहिए।

॥ अनित्यताभावे दूषण ॥

★ अनित्यताया अभावे ज्ञायकतादिशक्तेर भाव अर्थ क्रिया ऽ सभव ।

अर्थ— द्रव्य में अनित्यता के अभाव मानने से ज्ञायकतादि गुणरूप शक्ति का उसमें अभाव हो जाएगा और अर्थ क्रिया भी सभव नहीं होगी किसी भी एक अ श में अनित्यता मानने से ही, अर्थ क्रिया हो सकता है। नवीन कारण से कार्य उत्पन्न होता है, वह पूर्व पर्याय के ध्वस = व्यय से ही होता है। एक का व्यय और दूसरे नवीन का उत्पाद यह द्रव्य का नित्यानित्य पना है।

★ अनित्यता के अभाव म द्रव्य में ज्ञायकतादि शक्ति का अभाव होता है। और अर्थ क्रिया की असभवता होती है।

॥ एक स्वभाव स्वरूप ॥

५॥ तथा समस्तस्वभाव पर्यायाधार भूत भव्य देशाना (द्रव्यप्रदेशाना) स्वस्वक्षेत्र भेदरूपाणामेकत्व पिंडी-रूपापरित्याग एकस्वभाव ॥

अर्थ—अस्तित्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि द्रव्य के समस्त स्वभाव तथा गुण, पर्याय आदि सब पर्यायों का आधारभूत क्षेत्र प्रदेश है। वह सब क्षेत्र भेद से भिन्न भिन्न है। तथापि पिंडीभूत एकस्वरूप है। अर्थात् एक पिंडपने रहता है। उन प्रदेशों में क्षेत्रान्तर कभी नहीं होता, उनका अनन्तस्वभावी, अनन्तपर्यायी और असंख्यप्रदेशरूप प्रमाण कभी नहीं पलटता, इस समुदाय पिंडपने को एकस्वभाव कहते हैं। यह एकी भाव पंचास्तिकाय में धर्म०, अधर्म०, आकाश० ये तीनों द्रव्य एक-एक हैं। जीव द्रव्य अनन्त है। इनमें परमाणु पुद्गल अनन्त गुणे है। जीव नवीनता पने अनेक रूप धारण करता है। तथा जीवत्व पने में अन्तर नहीं है। वही द्रव्य का एक स्वभाव है।

५॥ समस्त स्वभाव और पर्यायो का आधारभूत प्रदेश वे स्व स्व क्षेत्र पने भिन्न होते हुये भी एकत्व पिंडरूप स्वभाव के अपरित्याग को एक स्वभाव कहते हैं।

॥ अनेकस्वभाव स्वरूप ॥

क्षेत्रकालभावाना भिन्नकार्यपरिणामाना भिन्नप्रभावरूपोऽनेक स्वभाव ।

अर्थ –क्षेत्र मे असंख्यात प्रदेश, काल मे उत्पाद, व्यय और भाव मे गुण के अविभाग पर्याय स्व कार्य रूप से भिन्न परिणामी है। उन सबका प्रवाह भिन्न २ है। और कार्यपना भी भिन्न २ है। इसलिये पर्याय भेद मे समस्त द्रव्य अनेक स्वभावी है।

॥ एकत्वाभावे दूषण ॥

एकत्वाभावे सामान्याभाव ॥

अर्थ –वस्तु में एकत्व स्वभाव न माना जाय अर्थात् एकत्व स्वभाव के अभाव से सामान्य धर्म का अभाव होता है। तथा गुण पर्याय का आधार कौन ? निराधार के आश्रयरूप से रहने वाले गुण पर्याय किस मे रहे ! इस लिये द्रव्य में एकत्व स्वभाव रहा है, वह अवश्य मानना चाहिये।

॥ अनेकत्वाभावे दूषणं ॥

* अनेकत्वाभावे विशेषधर्माभाव स्वस्वामित्व व्याप्य व्यापकत्वाद्यभाव. ।

---

* अनेकत्व के अभाव में विशेष धर्म का अभाव होता है और स्व-स्वामित्व तथा व्यापकता का भी अभाव होता है।

अर्थ—यदि वस्तु में अनेकत्व स्वभाव न माने तो द्रव्य में विशेष धर्म का अभाव होता है। बिना विशेष स्वभाव के द्रव्य में रहे हुए गुण, पर्याय की अनन्तता कैसे सिद्ध हो सकती है। और अनेक स्वभाव के बिना सम्बन्धित्व, व्याप्य व्यापक भाव कैसे घटित हो सकते हैं। जैसे—गुण पर्याय स्वधन है। और द्रव्य उसका स्वामी है अथवा द्रव्य व्याप्य है और गुण पर्याय उसमें व्यापक रूप है। इस का अभाव हो जायगा एवं द्रव्य में एक और अनेक स्वभाव रहे हुये हैं, ऐसा समझ कर मान्य करना चाहिये।

॥ भेद स्वभाव स्वरुप ॥

* स्व स्वकार्यभेदन् स्वभावभेदेन् अगुरुलघु पर्यायभेदेन् भेदस्वभाव'

अर्थ—अपने अपने कार्य भेद से, स्वभाव भेद से और अगुरुलघु पर्याय भेद स्वभाव रहा हुआ है। जैसे—जीव का ज्ञान गुण से जानपना व चरित्र गुण से स्थिरता, रमणता आदि कार्यपने से भेद है। इस प्रकार पुद्गल का कार्यभेद वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श की भिन्नता है यह स्वकार्य भेद हुआ। तथा स्वभाव भेद उसे कहते हैं जैसे—अस्ति स्वभाव सद्भाव का सबोधक है। नित्य स्वभाव अविनाशी स्वभाव और अनेकपना है वह प्रदेशादि भावों का सबोधक है। इस प्रकार वस्तु

* स्वकार्य भेद से, स्वभाव भेद से और अगुरुलघु पर्याय भेद से भेद स्वभाव होता है।

ा भेद अनेक प्रकार से रहा हुआ है। और अगुरुलघु पर्याय भेद
, प्रदेश, गुण विभाग और पर्याय आदि में पृथक् २ रूप से रहा
सब का एक समान=सदृश रूप नहीं है। हानि वृद्धि रूप चक्र सब
थक अनेक प्रकार परिणमन होता रहता है। इति भेद स्वभाव ॥

॥ अभेद स्वभाव स्वरुप ॥

अवस्थानाधारताद्यभेदत्वं अभेद स्वभाव ॥

अर्थ-सब धर्मों का अवस्थान=रहने का स्थान और उसका आधार
कदापि=किसी समय समय भी पृथक् नहीं हो सकता, जैसे–
स्तिकाय और आकाश का आधाराधेय भाव अभेद रूप से है।
ादि रूप से वस्तु में अभेद स्वभाव रहा हुआ है। उसे अभेद स्वभाव
ते हैं।

॥ भेदत्वा भावे दूषण ॥

* भेदाभाव सर्वगुणपर्यायाणां सङ्करदोष गुणगुणी
लक्षलक्षण कार्यकारणतानाश ।

अर्थ—यदि द्रव्य, गुण, पर्याय में भेद स्वभाव नहीं मानते हैं, तो
कर दोष प्राप्त होता है। गुणगुणी, लक्ष लक्षण और कार्य कारणता

भेद स्वभाव न मानने से द्रव्य गुण पर्याय में शङ्करता दोष उत्पन्न
है। गुणगुणी, लक्ष, लक्षण और कार्य, कारणता का नाश
है।

का नाश होता है। अर्थात्—कार्य और कारणपने का भेद नहीं रहता इस लिये वस्तु द्रव्य, गुण, पर्याय से भेद स्वभावी है। जैसे- जीव और चेतनत्व अभेद स्वभावी है। इसी प्रकार अजीव और जीव उसमें रहा हुआ जड़त्व अभेद स्वभावी है। तथापि अजीव में धर्मास्तिकाय का चलन सहकारित्व गुण अन्य अजीव द्रव्य में नहीं है, एवं धर्मास्तिकाय का स्थिरसहाय गुण, आकाशास्तिकाय का अवगाह गुण और पुद्गलास्तिकाय का रूपी और वर्ण गन्धादि परिणामी हैं। इस तरह समस्त द्रव्य भेद स्वरूप से भिन्न कहे जाते हैं।

प्रश्न—समस्त जीव जीवत्व रूप से सरीखे हैं उन्हें एक द्रव्य क्यों नहीं मानते हो ?

उत्तर— रुपया चादी रूप से तथा उज्वलता पने और तौल पने सदृश है, परन्तु वस्तु रूप से पिंड पने भिन्न है। इसी तरह जीव भी पिंडत्व रूप से भिन्न द्रव्य है। इसलिये वे भिन्न कहे जाते हैं। उत्पाद व्यय का चक्र भी सब का भिन्न है। और परिवर्तन भी सब का एक समान नहीं है। अगुरुलघु का चक्र भी हानि वृद्धि रूप सद् द्रव्य का अपना अपना पृथक रूप है। इसलिये सब जीव सब प्रमाणु भिन्न भिन्न हैं। यही उनका भिन्न स्वभावीपना है। इसलिये उन्हें एक नहीं मानते॥

॥ अभेदत्वाभावे दूषण ॥

अभेदाभावे स्थानाध्वस कस्यतेगुणा को वा गुणी इत्याद्यभाव ।

अपक्षीयते, विनश्यति इति ।

अर्थ— द्रव्य भव्य = भवन धर्म स्वभावी है । अर्थात् द्रव्य के गु पर्याय भव्य स्वभावी है । भव्य स्वभाव को ही भवन धर्म कहते हैं "सव्यापारैश्चभवनवृत्ति" अर्थात् व्यापार सहित क्रिया को भवन ध कहते हैं । वस्तु के गुण पर्याय हैं, व सब भवन समरथान रूप हैं।नवीनत सम्प्राप्त रूप है । (यथा दृष्टांत) जैसे— विवक्षित पुरुष उठता फिर वही बैठता है, वही उकुडुवादि आसन म सूता (निद्रा में) जागता है, इत्यादि पर्याय प्रक्रिया पुरुष प्रत्ययि होती है । इसको 'वृत्त न्तर' = अथात् पूर्व पर्याय का नाश उत्तर पर्याय का उत्पन्न होना यह वृत्यान्तर कहलाता है । और यह वृत्त्यान्तरपना ही यन्त्र व्यक्ति रूप कहा गया है । उसे भवन धर्म की प्रवृत्ति कहते हैं "यथा"

जायते = पिण्डातिरिक्त वृत्यान्तरावस्था प्रकाशावाया । जायते इत्युच्यते सव्यापारैश्च भवनवृत्ति ॥

अर्थ —"जायते" उत्पन्न होना, अस्तिपने रहना विपरीत रूप परिणमन होना, सामर्थ्य धर्म में वृद्धि होना, अपक्षियते = घटना विनश्यत = नाश होना, (पिण्डातिरिक्त) समुदाय से अतिरिक्त गु की वृत्त्यन्तर = दूरी वृत्ति की अवस्था का "प्रकट" प्रादुरभाव हो हा भवन धर्म है । भवन वृत्ति सव्यापार है किन्तु निर्व्यापार नहीं है

अस्ति—इत्यनेन निर्व्यापारात्ममत्तऽऽख्ययते,भवनवृत्तिरूद सीना अस्तिशब्दस्य निपातत्वात् ।

अर्थ—"अस्ति" यह वचन निराधार आत्मशक्ति का अवबोधक है। यह भवनवृत्ति से उदासीन है। अर्थात् भवनवृत्ति को ग्रहण नहीं करता। अस्ति शब्द निपात रूप है।

विपरिणमते = इत्यनेन तिरोभूतात्मरूपस्यानुच्छिन्न तथा वृत्तिस्स्यरूपान्तरेण भवन, यथा क्षीर दधिभावेन् परिणमते विकारान्तरवृत्त्या भवनवृत्तिष्ठते पूर्वया तरव्यक्ति हेतुभावनवृत्तिर्वा विपरिणाम॰ ॥

अर्थ—"विपरिणमत" इस वाक्य से नहीं प्रकट हुइ जो आत्मशक्ति उसका उत्पन्न होना यह भवन धर्म है। जैसे—दूध दधिभाव में परिणमन होना इस विकारान्त प्रवृत्ति को भवन धम कहते हैं। जिस ज्ञानादि पर्याय में अनन्त ज्ञेय जानने की शक्ति है परन्तु ज्ञेय का परिणाम (परिवर्तन) जिस प्रकार होता है, उसी प्रकार ज्ञान गुण का प्रवर्तन परिणामपने प्रति समय प्रवर्त्तमान होता है। यह भी भवन धर्म है। पुनः "पूर्वयान्तर वर्तना" विकार भाव को प्रवर्ते उसको विपरिणाम भवन धर्म कहते हैं।

वर्द्धते = इत्यनेन् तूपचयरूप प्रवर्तते यथाङ्कुरो वर्द्धते उपचयवत् परिणामरूपेण भवनवृत्तिर्व्यज्यते ॥

अर्थ—(वर्द्धते) यह वाक्य उपचय रूप में प्रवर्तमान होता है। जैसे—अंकूर वृद्धि को प्राप्त होता है। एवं पुद्गल में वर्णादि गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं। यह गुण की कार्यान्तर उपचय रूप भवनधर्म

वृत्ति को ग्रसना=प्रकट करना है अर्थात् गुण का कार्यान्तर पने परिणमन यही द्रव्य का भवन धर्म है।

अपचियत=इत्यनेन तु तस्यैव परिणामस्यापचयवृत्तिरारव्यते दुर्बलीभवत पुरुषवत् पुरुषवदपचयरूप, भवनवृत्त्यन्तरव्यक्ति रव्यते ।

अर्थ—उपरोक्त वाक्य से उसी परिणाम का न्यून होना दुर्बल होता हुआ पुरुष के समान। जैसे—पुरुष दुर्बल होता है, वैसे ह पर्याय के घटने से अर्थात् द्रव्य प्रमाणादि या अगुरुलघु पर्याय के घटने से द्रव्य की दुर्बलता वृत्ति को क्षयरूप भवन धर्म कहते हैं।

विनश्यति=इत्यनेनाविर्भूतभवनवृत्तिस्तिरोभवमुच्यते यथा=विनष्टो घट प्रतिविशिष्ट समवस्थानात्मिका भवनवृत्तिस्तिरोभूता नत्वभावस्यैव जाता कपालाद्यन्तर-भवनवृत्तिरनुपमाविच्छिन्नरूपत्वात् इत्येवमादिभिरा-कारैर्व्यापयेन भवनलक्षणान्यपदिश्यन्ते ।

अर्थ—प्रकट हुई भवन वृत्ति का तिरोभाव होना विनाश भव धर्म है। जैसे—घट का विनाश यह घट प्रतिविशिष्ट अवस्था व तिरोभाव (नाश) है। परन्तु कपालादि उत्तर भवनवृत्ति का अनुप अविच्छिन्न=निरन्तर पने होने से वह सर्वथा अभावरूप नहीं हो इत्यादि अनेक आकारों से प्रत्येक वस्तु भवनधर्म लक्षण युक्त है। इ को भव्य स्वभाव कहते हैं। (घट के अर्द्ध भाग को कपाल कहते हैं)

॥ अभव्य स्वभाव स्वरूप ॥

त्रिकालमूलावस्थाया अपरित्यागरूपो ऽभव्य स्वभाव

अर्थ— पदार्थ — द्रव्य अपने अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व और अगुरुलघुत्व आदि धर्म से तीनों काल में च्युत नहीं होता, इस अपरित्याग स्वभाव को अभव्य स्वभाव कहते हैं। जैसे— अनेक प्रकार से उत्पाद व्यय के परिणमन होते हुवे भी,जीव का जीवत्व नहीं बदलता इसी प्रकार अन्य नहीं बदलता, यह अभव्य स्वभाव का धर्म है।

॥ भव्यत्वाभावे दूषणम् ॥

भव्यत्वाभावे विशेषगुणानामप्रवृत्ति ॥

अर्थ— वस्तु में भव्य स्वभाव न मानने से द्रव्य में विशेष गुण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जैसे— पचास्तिकाय में गति, स्थिति, अवगाहक दायकता और वर्णादि गुण जो रहे हुवे हैं, उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, और बिना प्रवृत्ति के कार्य सिद्धि नहीं होती। और कार्य सिद्धि के बिना द्रव्य व्यर्थ है। इसलिये भव्य स्वभाव मानना चाहिये।

॥ अभव्यत्वा भावे दूषणम् ॥

अभव्यत्वाभावे द्रव्यान्तरापत्ति ॥

अर्थ— यदि द्रव्य में अभव्य स्वभाव न हो और केवल भव्य स्वभाव ही हो तो, वह द्रव्य नवीन नवीन भाव को प्राप्त होता हुआ

नर होकर अन्य द्रव्य पने हो जायेगा, और रूपां तर होने से वस्तु में रहा हुआ द्रव्यत्व, सत्व तथा प्रमेयत्व आदि अभव्य स्वभाव हैं, जिससे वस्तु में द्रव्यत्वादि गुण जो अपरिवर्तनशील है उस धर्म का विनाश भाव प्राप्त होगा, इस वास्ते वस्तु में अभव्य स्वभाव मानना चाहिये।

॥ वक्तव्य अवक्तव्य स्वभाव ॥

* वचनगोचरा ये धर्मास्ते वक्तव्या इतरे अवक्तव्या' तथाक्षरा सख्येया' तत्सन्निपाता असख्येया तद् गोचारा भावा भावश्रुतगम्या' अनन्तगुणा ।

अर्थ— आत्मा में वीर्य गुण है उस वीर्य नामक गुण के अविभाग पर्याय वीर्यान्तराय कर्म से आच्छादित है। उस वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम या क्षायिक भाव से प्रकट होने वाले वीर्य गुण के धर्म को धम को भाषापर्याप्ति कहते हैं। उस भाषा पर्याप्ति नामकर्म के उदय से ग्रहण किये हुये भाषा वर्गणा के पुद्गल भाषापने परिणमन होते हैं और वह श्रोता जनों के लिये ज्ञान के हेतु हैं।

प्रश्न = जिस में जो गुण नहीं वह वस्तु उस गुण के लिये कारण भूत नहीं हो सकती। तात्पर्य पुद्गल में ज्ञान गुण का अभाव है तो ज्ञान का कारण वह कैसे हो ?

---

* वचन से उच्चार्यमाण धर्म को वक्तव्य स्वभाव कहते हैं। जो शेष अनोच्चार्यमाण धर्म अवक्तव्य स्वभाव कहलाता है। वक्तव्य स्वभाव के अक्षर सख्याते हैं। उन अक्षरों के सन्निपातिक भंग असख्याते हैं उन सन्निपात अक्षरों से ग्रहण करने योग्य भाव धर्म अनन्त गुण हैं और वे भाव श्रुतगम्य हैं ॥

उत्तर—कारण दो प्रकार होते हैं (१) निमित्त कारण (२) उपादान कारण। निमित्त कारण रूप वस्तु में गुण हो किंवा न भी हो परन्तु इसके उपादान करण में गुण की योग्यता अवश्य रहती है, जैसे—पुद्गल परमाणु ज्ञान गुण के हेतु होते हैं।

वचन से ग्रहयमाण वस्तु धर्म को वक्तव्य धर्म कहते हैं। इससे इतर जो वचन से अगोचर धर्म है, वह अवक्तव्य धर्म कहलाता है। वस्तु में कतिपय धर्म ऐसे हैं। जिन का ज्ञान द्वारा हृदय में भास होता है। परन्तु उस वचनोच्चार द्वारा कह नहीं सकते, उसे अवक्तव्य धर्म कहते हैं। वक्तव्य धर्म से अवक्तव्य धर्म अनन्तगुण है। "उक्तंच"

अभिलप्पा जे भावा, अणंतगुणो य अणभि--

लप्पाणं, अभिलप्पसाणंतो भाग सूए निब धोअ ॥१॥

भाषा के लिये अक्षर सख्यात हैं। उन अक्षरों से सन्निपात भंग असख्याते हैं। उन सन्निपात अक्षरों से ग्रहण करने योग्य पदार्थों के भाव अनन्त गुणे हैं। उस से अवक्तव्य भाव अनन्तगुणे हैं। अक्षर सख्याते ही है, इन के वचनोच्चार में ऐसा सामर्थ्य है कि जिससे अवक्तव्य धर्म का भी उसमें अवबोध होता है। मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान अभिलाप्य भावों का परोक्ष ग्राहक है। अवधिज्ञान पुद्गल को प्रत्यक्ष से जानने वाला है। परन्तु परमाणु के सब पर्यायों को नहीं जानता, कितनेक पर्यायों को जानता है और काल से असख्यात समय जानता है। केवलज्ञान छओ द्रव्यों के समस्त पर्यायों को एक समय में प्रत्यक्ष रूप से जानता है।

॥ वक्तव्याभावे दूषणम् ॥

वक्तव्या भावे श्रुतग्रहणत्वापत्ति ।

अर्थ—द्रव्य में वक्तव्य भाव नहीं मानने से श्रुतज्ञान से वह नहीं जाना जा सकता। जिस इसके ग्रंथाभ्यास, उपदेशादि कार्य नहीं हो सकता। इस लिये वक्तव्य धर्म मानना आवश्यकीय है।

॥ अवक्तयाभावे दूषण ॥

★ अवक्तयाभावे अतीतानागत पर्यायाणा कारणतायोग्यतारूपाणामभाव., सर्वकार्याणा निराधारताऽऽपत्तिश्च ॥

अर्थ—वस्तु में अवक्तव्य स्वभाव नहीं मानते हैं तो अतीत पर्याय जो कारणता की परम्परा में रही हुई है। तथा अनागत पर्याय जो योग्यता रूप में रही हुई है। उन सब का अभाव होता है। जिस समय वस्तु में वर्तमान पर्याय की अस्तिता है, उस वर्तमान पर्याय से अतीत अनागत का अवबोध नहीं हो सकता। इसलिये अवक्तव्य स्वभाव अवश्य मानना चाहिये, नहीं तो वर्तमान कार्य सब निराधार हो जायगा और द्रव्य में एक समय अनन्त कारण हैं। वे कारण अनन्त कार्य धर्म

★ अवक्तव्य स्वभाव के अभाव—न मानने से अतीत अनागत पर्यायों में कारण, योग्यता रूप धर्म का अभाव हो जायगा और सब कार्यों का निराधारता होता है।

रूप हैं। इस अनन्त कार्य कारण का परस्पर कवली को है। वर्तमान काल में जो कारण धम तथा कार्य धम है उससे अनन्तगुण कारण कार्य का योग्यता रूप सत्ता वस्तु में है। यह वस्तु अविभाग नहीं है किन्तु अविभागी जो ज्ञानादि गुण अर्थात् ज्ञान आदि गुण की अविभाग एक पर्याय में अनन्त कारण धर्म और अनन्त काय धम के उत्पन्न होने =पानने का योग्यता रूप सत्ता है और वह अवक्तव्य रूप है। इस लिये इसे मानना योग्य है।

॥ परम स्वभाव स्वरूप ॥

✤ सर्वेषा पदार्थाना ये विशेषगुणाश्चलन स्थित्यवगाह सहकारपूरणगलन चेतनादयस्ते परमगुणा ॥ शेषा साधारणा, साधारणासाधारणगुणास्तेषा तदनुयायि प्रवृत्ति हेतु परम स्वभाव, इत्यादय सामान्य स्वभाव.

अर्थ—सब पदार्थों के विशेष गुण जैसे-धर्मास्तिकाय का चलन

✤ सब पदार्थो में जो विशेष गुण चलन सहकारित्व, स्थिर सहकारीत्व अवगाह सहकारीत्व और चेतनादि को परम स्वभाव कहते हैं। शेष गुण साधारण कहे जाते हैं, साधारण तथा असाधारण गुण का और उस के अनुयायी प्रवृत्ति का हेतु परम स्वभाव है।

इति सामान्य स्वभाव ॥

सहकारित्व गुण, अधर्मास्तिकाय का स्थिर सहाय गुण, आकाशास्तिकाय का अवगाह दान गुण, पुद्गलास्तिकाय का पूरणगलपना और जीवास्तिकाय का चेतनत्व ये सब विशेष गुण कहे जाते हैं। अर्थात् द्रव्य का ऐसा लक्षण जो अन्य द्रव्यों में न मिल सके, और दूसरे अन्य द्रव्य से पृथक् करने का मूल कारण हो, उसे परम स्वभाव कहते है। यह इसका परम प्रकृष्ट गुण है। वह सब द्रव्यों में रहा हुआ है। इस प्रधान गुण के अनुयायि और भी साधारण गुण पचास्तिकाय में पाये जाते हैं जो प्राय सब द्रव्यों में सदृश रूप होते हैं। जैसे-अविनाशी, अगुरुलघु नित्यत्वादि इन्हें साधारण गुण कहते हैं। और इन सब का प्रवर्तन विशेष गुण के अनुयायी हैं। और परम स्वभाव ही इस प्रवतना का कारण है। सब गुण जिस मुख्य गुण के अनुयायी पने प्रवर्ते उस को परम स्वभाव कहते हैं।

एवं यथा क्रम तेरह प्रकार सामान्य स्वभाव के। पुनः "अनेकान्त जयपताका" ग्रन्थ में भी वस्तु को अनन्त स्वभावी कहते हुवे कहा है "यथा"।

> तथा अस्तित्व, नास्तित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व
>
> असर्वगतत्व, प्रदेशत्वादि भावा ।

अर्थ—द्रव्य अस्तित्व, नास्तित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व असर्वगत और प्रदेशत्वादि (अनन्त) स्वभाव मय है। पुनः तत्वार्थसूत्र की * टीका में "यथा"

---

* तत्वार्थ सूत्र द्वितीय अध्याय के सातवें सूत्र में परिणामिक भाव के भेदों की व्याख्या करते हुवे टीका कार कहते हैं।

पुनरप्यादि ग्रहण कुर्वन् ज्ञापयत्यनान्त धर्मत्व
तत्राशक्ता प्रस्तारयन्तु सर्वे धर्मा प्रतिपदम्
प्रवचनत्वेन पु सा यथासम्भवमायोजनीया'
क्रियावत्व पर्यायोपयोगिता प्रदेशाष्टक निश्चलता'
एव प्रकारा सन्ति भूयास अनादिपरिणामिका
भवन्ति जीवस्वभावा धर्मादिभिस्तु समाना
इति विशेष ।

अर्थ— तत्त्वार्थ सूत्र में परिणामिक भेदा * की व्याख्या में जो आदि शब्द का अन्त में प्रयोग किया है । वह आदि शब्द वस्तु में अनन्त धर्म का अवबोधक है । यदि सब विस्तार पूर्वक वर्णन करने की शक्ति न हो तो प्रवचन "नैगमम" के जानने वाले को प्रत्येक द्रव्य में यथा सभव जितने धर्मों का प्रतिपादन कर सके उतने को जोड दें । 'क्रियावत्व' ज्ञानादि गुण लोकालोक जानने के वास्ते प्रति समय प्रवतमान है । पूज्य भाष्यकार ने ज्ञानादि गुण को कारण और उसी गुण की प्रवर्ती को क्रिया कहा है । तथा देखना है, वह कार्य, इस प्रकार तीनों परिणति स धर्मास्तिकाय के सब गुण परिणामी हैं । इसलिये ये पचास्तिकाय की ज्ञानादि पर्यायों का उपयोगीपना जीव का सब धर्म है । तथा प्रदेशाष्टक ✻ का निश्चलता यह भी जीव का स्वभाव है । धर्म० अधर्म० आकाश इन ताना

* तत्वार्थ सूत्र अ० २ सूत्र ७ "जीवभव्याभव्यादीनी च" ।

✻ आठ रूचक प्रदेश ।

अस्तिकाय के प्रदेश काल से अनादि अनन्त अवस्थित रूप है। पुद्गल चल भाव सदा सर्वदा है। पुद्गल परमाणु तथा स्कंध संख्यात या असंख्यात काल पर्यन्त एक क्षेत्र में रह कर पुन अवश्य चल भाव को प्राप्त होता है। जब अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र को पाकर अव्याबाध आनन्दमय सिद्ध क्षेत्र में सादिअनन्त कालपने समस्त प्रदेशों से स्थिर हो जाता है। संसार जीवों के आठों रुचक प्रदेश सर्वदा स्थिर हैं और वे आठों प्रदेश निरावरण हैं = कर्म आवर्ण रहित है। "श्री आचारांग सूत्र की शिलांगाचार्य कृत टीका के लोक विजय अध्ययन के प्रथम उद्देश में कहा है, 'यथा'—

> तदनेन पंचदशविधेनापि योगेनात्मा अष्टौ प्रदेशान्
> विहाय तप्त भाजनोदकवदुद्वर्तमानै सर्वैवात्मप्रदेशैरात्म-
> प्रदेशावष्टब्धाकाशस्थ कारमण शरीरयोग्य कर्मदलिकम्
> यद् बध्नाति तत् प्रयोगकर्मेत्युच्यते ।

कहने का तात्पर्य यह है कि आठ रुचक प्रदेशों में कर्म नहीं लगता।

प्रश्न— जो निरावर्ण है, तो लोकालोक क्यों नहीं देखते ?

उत्तर आत्मा की गुण प्रवृति सब प्रदेशों के मिलने से प्रवर्तमान होता है। ये आठ प्रदेश अल्प हैं। अल्पत्वात् निरावरण होने पर भी कार्य नहीं कर सकते जैसे-अग्नि का सूक्ष्म कण दाहक, प्रकाशक, पाचक होते हुवे भी अल्पता के कारण दाहकादि कार्य नहीं कर सकता।

प्रश्न—जो चल प्रदेश है उसके कर्म लगते हैं। अचल प्रदेशों के कर्म नहीं लगते। "भगवती सूत्र में कहा है "यथा" —

जेअइ, वेअइ, फन्दई, घट्टइ, से वधइ ॥

इस पाठ में सिद्ध होता है कि जो चलितादि भाव को प्राप्त है उन्हीं प्रदेशों को कर्म बन्ध होता है। इस लिये आठ अचल प्रदेशों में कर्म नहीं लगते। कार्य अभ्यास से जब प्रदेश सम्मिलित होते हैं तब इन प्रदेशों के गुण भी कार्य करने के लिये प्रवर्तमान होते हैं। जिस प्रदेश का जो गुण है, वह अपने प्रदेश को छोड के अन्य प्रदेशों में नहीं जाता। आठ प्रदेश सदा निरावर्ण रहते हैं। दूसरे प्रदेशों में अक्षर का अनन्तवा भाग चेतना रूप निरावर्ण रहता है। ऐसे बहुत से अनादि परिणामिक भाव हैं ये जीव विषयी कहे गये हैं। सप्रदेशादि पना धर्मास्तिकायादि में भी समान रूप से पाया जाता है॥ इत्यादि विशेष स्वभाव ॥

॥ शास्त्रवार्ता समुच्चय से विशेष स्वभाव ॥

भिन्न भिन्न पर्याय प्रवर्तन स्व कार्य करण सहकार मता. पर्यायानुगत परिणाम विशेष स्वभावा ते च के, १ परिणामिकता, २ कर्तृता, ३ ज्ञायकता, ४ ग्राहकता ५ भोक्तृता, ६ रचणता, ७ व्याप्यव्यापकता, ८ आधाराधेयता ९ जन्यजनकता, १० अगुरुलघुता, ११ निमित्तकारणता, १२ कारकता, १३, प्रभुता, १४ भावुकता, १५ अभावुकता, १६ स्वकार्यता, १७ सप्रदेशता, १८ गतिस्वभावता १९ स्थिरस्वभावता, २० अवगाहकस्वभावता, २१ अस्त-

हता, २२ अचलता, २३ अमगता, २४ सक्रियता, २५ सनियता इत्यादि क्षायोपशमिकप्रवृत्तिनिमित्तिका ।

अर्थ— भिन्न भिन्न पदार्थ के कार्य, कारण पने का प्रवर्तन में सम कर भूत, पर्यायानुगत परिणामिक स्वभाव को विशेष स्वभाव कहते हैं व अनेक प्रकार के हैं। तथापि हरिभद्र सूरि कृत 'शास्त्रवार्ता समुच्चय ग्रंथ में कितनेक नाम लिखे हैं। उनको यहां बताते हैं १ सब द्रव्य प्रति समय अपने अपने गुण का कार्य करने के लिये प्रवर्तता हुआ स्वगुण का कारण हो उसे परिणामिक स्वभाव कहते हैं, २ 'कर्तृता' कर्ता आत्मा है। अन्य नहीं। 'अप्पाकत्ता विकत्ताय,' 'इति उत्तराध्ययन वचनात्' ३ ज्ञायकता शक्ति जीव में है। ज्ञान लक्षण जीव है। 'गिन्हइ य वियाणइ' इति आवश्यक निर्युक्ति ॥ ४ ग्राहकता शक्ति भी जीव में है, ५ भोक्ता शक्ति भी जीव में है। 'ज कत्तो कुणइ सो भु जइ। य कर्ता स एव भोक्ता' १ रक्षणता, २ व्याप्य व्यापकता, ३ आधाराधेयता, ४ जन्य जनकता तत्वार्थ वृति में है। १ अगुरुलघुता, २ विभुता ३ कारणता ४ कार्यता ५ कारकता इन शक्तियों की व्याख्या विशेषावश्यक में है। १ भावुकता २ अभावुकता शक्ति का वर्णन हरिभद्र सूरी कृत भावुक प्रकरण में है और कौतनीक शक्तियों का वर्णन अनेकांत जयपताका, सम्मतितर्क आदि तर्क ग्रंथों में है।

ऊर्ध्वप्रचय शक्ति, तिर्यक्प्रचयशक्ति, ओघशक्ति और समुचित शक्ति का वर्णन सम्मतितर्क ग्रंथ में है। और जो द्विगुण आदि मानने वाले हैं, वे सम्पूर्ण धर्म को शक्ति रूप मानते हैं। दाना दलन

और अव्याबाधादि सुख को भी वे शक्ति रूप ही मानते हैं। कई इस प्रकार से व्याख्या करते हैं, कि गुण कारण है। वे कतादिपने सामर्थ्य रूप है। जानना देखना यह कार्य है। कई शक्तियां जीव में है। कई अजीव में है।

देवसेन कृत 'नय चक्र' में जीव को अचेतन स्वभावी, मूर्त स्वभावी, और पुद्गल को चेतन स्वभावी, अमूर्त स्वभावी कहा यह अयुक्त है। यदि आरोपपने कोई कहे भी दे तो, केवल कथन मात्र है। परन्तु अस्ति नहीं है। जिस धर्म की आरोप से या उपचार से गवेषणा की जाय वह वास्तविक वस्तु धर्म नहीं है। केवल उपाधिरूप है॥ इति विशेष स्वभाव॥

॥ धर्मास्तिकाय के गुण ॥

धर्मास्तिकाये अमूर्तचेतनाक्रियगति सहायादयो, गुणा॰ ॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय के चार गुण हैं (१) अमूर्त (२) अचेतन (३) अक्रिय (४) गति सहाय आदि अनन्त गुण हैं।

॥ अधर्मास्तिकाय के गुण ॥

अधर्मास्तिकाये अमूर्ताचेतनाक्रिय स्थिति सहायादयो गुणा. ॥

अर्थ—अधर्मास्तिकाय के चार गुण (१) अमूर्त (२) अचेतन (३) अक्रिय (४) स्थिति सहाय आदि अनन्त गुण मय है।

॥ आकाशास्तिकाय के गुण ॥

आकाशास्तिकाये अमूर्ताचेतनाक्रियावगाहनादयो गुणाः।

अर्थ—आकाशास्तिकाय के चार गुण (१) अमूर्त (२) अचेतन (३) अक्रिय (४) अवगाहना आदि अनन्त गुण मय है।

॥ पुद्गलास्तिकाय के गुण ॥

पुद्गलास्तिकाये मूर्ताचेतनसक्रिय पूरणगलनादयो गुणाः

अर्थ—पुद्गलास्तिकाय के चार गुण (१) मूर्त (२) अचेत (३) सक्रिय (४) पूरण, गलन आदि "वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि" अन गुण है।

॥ जीवास्तिकाय के गुण ॥

जीवास्तिकाये ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, अव्याबाधामूर्तागुरुल घ्वानवगाहादयो गुणाः । एवं प्रति द्रव्य गुणानाम न्नत्व ज्ञेयम्॥

अर्थ— जीवास्तिकाय के गुण १ ज्ञान, २ दर्शन, ३ चारित्र, ४ वी १ अव्याबाध, २ अरूप, ३ अगुरुलघु, ४ अनवगाही आदि अन गुणमय है।

❀ इति षट्द्रव्य विचार ❀

आगमसार से षट् द्रव्य के पर्याय

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन तीनों की चार चार पर्याय सदृश = एक सरीखी है, १ स्कन्ध, २ देश, ३ प्रदेश= एक अविभाग स्कंध से पृथक नहीं होता, ४ अगुरुलघु आदि अनन्त पर्यायमय है।

पुद्गलास्तिकाय के चार पर्याय— १ वर्ण, २ गन्ध, ३ रस, ४ स्पर्श अगुरुलघु आदि अनन्त पर्याय मय है।

जीवास्तिकाय के चार पर्याय— १ अव्याबाध, २ अनावगाही, ३ अमूर्त, ४ अगुरुलघु आदि अनन्त पर्याय मय है।

काल के चार पर्याय— १ अतीत, २ अनागत, ३ वर्तमान, ४ अगुरुलघु। काल उपचार से द्रव्य माना गया है। उस में अगुरुलघु पर्याय कैसे घटित हो सकता है? उत्पादव्यय ध्रुव युक्त सत् यह सत् लक्षण युक्त नहीं है, यह विचारणीय है।

❀ नयाधिकार ❀

नय ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्रकारों ने द्रव्यास्ति नय के दो मुख्य भेद किये हैं—१ शुद्ध द्रव्यास्तिक नय, २ अशुद्ध द्रव्यास्तिक नय। और श्वमन कृत पद्धति = 'आलाप पद्धति में' द्रव्यास्तिक नय के दस भेद किये हैं। वे सब इन दो भेदों में समावेश हो जाते हैं, और शुद्ध अशुद्ध

द्रव्यार्तिकनय दोनों नयों का समावेश सामान्य स्वभाव में होता है। इस लिये यहा विशेष वर्णन नहीं है।

॥ पर्यायार्थिक नय स्वरूप ॥

पर्याया षोढा १ द्रव्यपर्याया = असख्यप्रदेशसिद्धत्वादय', २ द्रव्यव्यजनपर्याया = द्रव्याणा विशेषगुणश्चेतनादयश्चलनसहकारादयश्च, ३ गुणपर्याया = गुणाविभागादय, ४ गुणव्यजनपर्याया = ज्ञायकादय कार्यरूपा' मतिज्ञानादय ज्ञानस्य, चक्षुदर्शनादयो. दर्शनस्य, क्षमामार्दवादय' चारित्रस्य वर्णगन्धरसस्पर्शादय मूर्त्तस्य इत्यादि ५ स्वभावपर्याया. = अगुरुलघुविकारा ते चद्वादशप्रकारा षट् गुणहानिवृद्धिरूपा अवाग्गोचरा, एते पच पर्याया सर्वद्रव्येषु, ६ विभावपर्याया = जीवनरनारकादय पुद्‌गलेष्वणुकातोऽनन्ताणुकपर्यन्ता-स्कन्धा ॥

अर्थ—पर्यायार्तिक नय के छह भेद हैं, (१) द्रव्यपर्याया = द्रव्य में एकत्वपने रहे हुए नावादि के असख्य प्रदेश तथा आकाश के अनन्त प्रदेश को द्रव्य पर्याय कहते हैं। अथवा सिद्धत्व या द्रव्य के असहत्वादि रूप को द्रव्य पर्याय कहते हैं।

(२) द्रव्यव्यजन पर्याय = द्रव्यों को "व्यजक' प्रकट रूप से भिन्न मानने वाली पर्याय अर्थात द्रव्य की भिन्नता प्रकट करने वाले विशे

गुण जो अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते उस गुण को द्रव्य व्यञ्जनपर्याय कहते हैं। जैसे—जीव का चेतनादि, धर्मास्तिकाय का चलन सहकारादि, अधर्मास्तिकाय का स्थिर सहकारादि, आकाश का अवगाह दान, पुद्गल का वर्ण, गंध, रस स्पर्श पूरण गलन ये विशेष गुण कहे जाते हैं। इस से द्रव्य की भिन्नता प्रगट होती है। उसे द्रव्य व्यञ्जन पर्याय कहते हैं।

(३) गुणपर्याय = गुण के निरंश अंश को अविभाग पर्याय कहते हैं। अनन्त अविभाग पर्याय के समुदाय = पिंड पिंड को गुणपर्याय कहते हैं।

(४) गुण व्यञ्जनपर्याय = ज्ञानादिगुण कार्यरूप में परिणत हो उसको गुणव्यञ्जन पर्याय कहते हैं। जैसे-ज्ञानगुण के जानपने को, चरित्रगुण के स्थिरत्व भाव को अथवा-ज्ञान के मतिज्ञानादि भेद को, दर्शन के चक्षुदर्शनादि, चरित्र के सामायिकादि, पुद्गल के वर्ण गंध रस स्पर्शादि और अमूर्त के अवर्णादि गुण, ये सब गुण व्यञ्जन पर्याय कहे जाते हैं।

(५) स्वभाव पर्याय = अगुरुलघु के विकार भाव को स्वभाव पर्याय कहते हैं। वह विकार षट् गुण हानि वृद्धि रूप है। प्रत्येक द्रव्य में यह प्रवाह रूप से निरंतर हुआ करता है। इस में किसी प्रकार के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। वस्तु का स्वभाव धर्म ही है। इस का वास्तविक रूप वचन अगोचर है। अनुभव गम्य नहीं है। स्थानांग सूत्र की टीका में श्रुत ज्ञान की शुद्धि के सात अंग कहे हैं, (१) सूत्र (२) निर्युक्ति (३) भाष्य, (४) चूर्णि = सूत्रादि के अर्थ को प्रकाश करे, (५) टीका = व्याख्या

ये पाच अग ग्रन्थ रूप हैं, (६) परपरा, (७) अनुभव इन साता के पठन पाठन या श्रवण मनन से सच्चे ज्ञान अर्थ की प्राप्ति होती है, और आत्मा निर्मल होती है, जैन-भगवती सूत्र में भी कहा है-"यथा"

सुत्तत्थो खलु पढमो बीओ निज्जुत्तिमिसिओ भणीओ ॥
तइयो अ निरवसेसो एस विहि होइ अणुओगे ॥

उपरोक्त पाचों पर्याय सब पदार्थों = द्रव्यों में पाये जाते हैं।

(६) विभाव पर्याय = विकार भावों पर्याय को विभाव पर्याय कहते हैं। वह जीव और पुद्गल में है। जैसे-जीव का नर नारकादि विभाव रुप पर्याय है, और पुद्गल में द्वेणुकादि यावत् अनन्त अणुक स्कन्ध पर्यंत विभाव पर्याय है।

॥ पर्यायार्थिक नय के चार भेद ॥

मेर्वाद्यनादिनित्य पर्याय, १, चरमशरीर त्रिभागन्यूनाव-गाहनादय सादिनित्यपर्याय २, सादि सान्तपर्यायाः भव शरीराध्यवसायादय ३ अनादि सान्त पर्याया. भव्यत्वादय ४

अर्थ—(१) पुद्गल का मेरु प्रमुख स्कन्ध अनादि सान्त पर्याय है, (२) जीव की सिद्धावस्था, सिद्ध अवगाहना सादि नित्य पर्याय है, (३) भव, शरीर, अध्यवसाय, वाय के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले तीनों वीर्य (मन वच काय), कषाय स्थान, सयम स्थान अध्यवसायस्थान ये सादि सात पयाय है, (४) भव्यत्व पर्याय यह अनादि सात है।

क्योंकि अनादि पने रहा हुआ भव्यत्व स्वभाव क्षय होने से ही सिद्धगमन, सिद्धावस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार वस्तु अनेक पर्यायात्मक है।

॥ ✲ निक्षेप स्वरूप ॥

तथा च निक्षेपा सहजरूपा वस्तुन पर्याया ।

अर्थ—निक्षेप यह वस्तु की स्वाभाविक = स्वपर्याय है, "यथा"

चत्तारो वत्थुपज्जया, इति

(विशावश्यक सूत्रे)

नामयुक्ते प्रति वस्तुनि निक्षेपचतुष्टय युक्तम् ।

(भाष्य वचनात्)

जत्थ य ज जाणिज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरविसेसं,

जत्थ य नो जाणिज्जा चउक निक्खिवे तत्थ ॥

(अनुयोग द्वार)

उपरोक्त अनुयोग द्वार सूत्र पाठ से यह अवबोध होता है कि वस्तु में जितने निक्षेप ज्ञान हो उतने कहना चाहिये। कदाचित विशेष ज्ञान

✲ नय के बीच में निक्षेप की व्याख्या करने का कारण यह है कि वस्तु अनेक पर्याय आत्मक है और निक्षेप वस्तु की स्वपर्याय है। नय के साथ इस का सम्पर्क होने से इसे पर्यायार्थिक नय में समावश करके निक्षेप की व्याख्या शास्त्रकार ने यहां की है। प्रथम के तीन निक्षेप द्रव्य नय हैं और भाव निक्षेप भाव नय है।

न हो तो सामान्य रूप से चार निक्षेप तो अवश्य प्रतिपादन करना चाहिये—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ॥

॥ निक्षेप के नाम ॥

* तत्र नाम निक्षेप, स्थापनानिक्षेप द्रव्यनिक्षेप भावनिक्षेप ।

अर्थ—"तत्र" जैनागमो में नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप इस प्रकार निक्षेप के चार नाम बताये हैं ।

॥ नाम निक्षेप के भेद ॥

४ तत्र नाम निक्षेप द्विविध सहज साकेतिकश्च ।

---

* तत्त्वार्थ सूत्र अ० १ सूत्र ५ में "नामस्थापना द्रव्य भाव तस्तन्न्यास" इसी का यहा रूपान्तर है । "तत्त्वार्थ में" इसी सूत्र से निक्षेप की व्याख्या की गई है पुनः यथा—"विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्च अधिगमार्थ न्यासो निक्षेप इत्यर्थ । अर्थात् विस्तार से लक्षण से तथा विधान=भेदादि से ज्ञान होने के लिये व्यवहार उपयोगी न्यास=निक्षेप है ।

४ जो व्युत्पत्ति आदि से सिद्ध या स्वाभाविक नाम से जीवादि पदार्थ का बोध हो उसे "सहज" नाम निक्षेप कहते हैं, और जो शब्द व्युत्पत्ति आदि से साधक सिद्ध नहीं होता स्वल लाक रूपो से सांकेत हो, उसे सांकेत नाम निक्षेप कहते हैं । सेवकादि का गुण न होने पर भी सेवक कहना इत्यादि ।

अर्थ—नाम निक्षेप के दो भेद हैं, (१) सहज (२) सांकेतिक = किसी का किया हुआ नाम ।

॥ स्थापना निक्षेप के भेद ॥

स्थापनाऽपि द्विविध सहज, आरोपजा च ।

अर्थ—स्थापना निक्षेप के भी दो भेद हैं—सहज और आरोप। वस्तु का स्वाभाविक अवगाहना रूप को सहज स्थापना कहते हैं। वस्तु के आकार, मूर्ति चित्र या किसी अन्य वस्तु में आरोप करे, उसे आरोप स्थापना निक्षेप कहते हैं।

॥ द्रव्य निक्षेप के भेद ॥

द्रव्यनिक्षेपो द्विविध आगमतो नोआगमतश्च
तत्र आगमत तदर्थज्ञानानुपयुक्त नोआगमतो
ज्ञशरीर भव्यशरीर, तद् व्यतिरिक्त भेदात् त्रिधा ।

अर्थ—द्रव्य निक्षेप के दो भेद हैं, आगम से, और नोआगम से। उपयोग रहित या बिना समझे सूत्र सिद्धान्तादि का पठन पाठन अथवा तप संयमादि क्रिया का करना, यह आगम द्रव्य निक्षेप है और नोआगम द्रव्य निक्षेप जैसे-वस्तुगुण सहित है तथापि वर्तमान से गुण रूप नहीं है। जिसके तीन भेद हैं (१) ज्ञशरीर = मरे हुये पुरुष का शरीर (२) भव्य शरीर = वर्तमान में गुण नहीं है। आगे गुण मय होगा, "यथा" एवन्ता मुनि, (३) तद् व्यतिरिक्त = गुण सहित विद्यमान है। परन्तु वर्तमान में उपयोग सहित नहीं है।

॥ भाव निक्षेप के भेद ॥

भावनिक्षेपो द्विविध' आगमतो नोआगमतश्च
तद् ज्ञानोपयुक्त तद् गुणमयश्च वस्तुसुधर्म युक्त,
तत्र निक्षपा वस्तुन स्वपर्याया धर्मभेदा ॥

अर्थ—भाव निक्षेप के दो भेद हैं-आगम से और नोआगम से भाव निक्षेप। उपयोग सहित ज्ञान को जाने और उसी उपयोग में वर्ते उसे आगम से भाव निक्षेप कहते हैं। तथा-स्वरूपानुयायि गुण रमणता को नो आगम से भाव निक्षेप कहते हैं।

उपरोक्त चार निक्षेप में प्रथम के तीन निक्षेप कारण रूप हैं, और चौथा भाव निक्षेप कार्य रूप है। भाव निक्षेप के उत्पादक हों तो प्रथम के तीन निक्षेप सप्रमाण हैं। अन्यथा अप्रमाण है। प्रथम के तीन निक्षेप द्रव्य नय है, और भाव निक्षेप भाव नय है। भाव निक्षेप नहीं उत्पन्न करने वाली केवल द्रव्य प्रवृत्ति निष्फल है, "यथा"

फलमवगुणो फलगुणो फल च क्रिया भवात तस्याश्च
क्रियाया सम्यग्दर्शन ज्ञानचरित्र रहिताया ऐहिकामुष्मिकार्थं
प्रवृत्ताया अनात्यन्तिकोऽनैकान्तिको भवेत् फल गुणोप्यगुणो
भवति सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र क्रियायास्तु एकान्तिकानाबाध
सुखाख्यसिद्धिगुणोऽवाप्यते एतदुक्त भवति सम्यगदर्शना-
दिकैः क्रिया सिद्ध फलगुणेन् फलवत्यपरा तु ससारिक सुख
फलाभ्यास एव फलध्यारोपान्निष्फलैत्यथ ।

(अचाराग टीका लोक विजय अध्ययन)

तात्पर्य यह है कि रत्नत्रयी परिणाम बिना जो क्रिया की जाता है, उस से संसारिक सुख मिलता है। अनाबाध सुख के बिना यह क्रिया निष्फल है। ऐसा इस पाठ का आशय है। इस लिये भाव निक्षेप के कारण बिना पहले के तीना निक्षेप निष्फल है। निक्षेप वस्तु का स्व पर्याय है, और वस्तु का स्वधर्म है।

॥ नय का लक्षण ॥

नयास्तु पदार्थज्ञाने ज्ञानांश तत्रानन्त धर्मात्मक

वस्तुन्येकधर्मोन्नयन ज्ञाननय ॥

अर्थ—पदार्थ के ज्ञान अंश को नय कहते हैं। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उस में से जीवादि किसी एक पदार्थ को एक धर्म की गवेषणा करता हुआ अन्य धर्मों का उच्छेद=निषेध भी नहीं और ग्रहण भी नहीं, किन्तु एक धर्म की मुख्यता स्थापित करना उसे नय कहते हैं।

॥ पुन द्वितीय लक्षण ॥

* नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविशयी कृत स्यार्थस्या-

---

* जिस श्रुत ज्ञान स प्रमाण सहित कहे हुए वस्तु धर्म के एक अंश को ग्रहण कर अन्य अंशों से उदासीन रहे ऐसा ज्ञाता का अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं, और अपने अभिष्ट धर्म में अन्य ... [illegible] निषेध करना उसे नया भाव कहते हैं।

अस्तदितरांशौदासीन्यत स प्रतिपत्तुरभिप्राय विशेषो नय, स्वाभिप्रेताद शापलापी पुनर्नया भास ॥
(रत्नाकरावतारिके)

॥ नय के भेद ॥

* स व्यासममासाभ्यां द्विप्रकार, व्यासतोऽनेक विकल्प समासतो द्विभेद द्रव्यार्थिक' पर्यायार्थिक ।

अर्थ—नय का विस्तार से वर्णन किया जाय तो अनेक भेद होते हैं "यथा"

जावतो वयणपहा तावन्तो वा नय विशद्दाओ ।
(विशेषावश्यक भाष्य गाथा २२६५)

तात्पर्य—जितने प्रकार के वचन हैं उतने ही नय हैं। उनका अव बोध सामान्य दृष्टि वालों के लिये असह्य है। इस लिये सुखावोध हेतु संक्षेप में दो भेद किये हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायर्थिक। इसमें द्रव्यार्थिक के चार और पर्यायार्थिक के तीन भेदों की व्याख्या आगे सूत्र से करेंगे।

---

* यह नय विस्तार और संक्षेप से दो प्रकार है, विस्तार से अनेक भेद होते हैं, और संक्षेप मे दो भेद हैं—(१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यायार्थिक।

॥ द्रव्यार्थ नय की व्याख्या ॥

द्रवति, द्रोष्यति, अदुद्रवत् तास्तान पर्यायानिति द्रव्य
तदेवार्थ, सोस्ति यस्य विषयत्वेन स द्रव्यार्थिक' ॥
(रत्नाकरावतारिका)

अर्थ—द्रु =गतौ धातु गमन अर्थ में है। उसका वर्तमान अर्थ में द्रवति रूप होता है, भविष्यमें द्रोष्यति, और भूतकाल में अदुद्रवत् इस प्रकार क्रिया का कर्ता हो, उसे द्रव्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो वर्तमान में पर्याय का उत्पादक हो, भविष्य में उत्पादक होगा और भूतकाल में था उस को द्रव्य कहते हैं। उसी अर्थ का प्रयोजन है, जिस में उसे द्रव्यार्थी नय कहते हैं। पर्याय-जन्य है और द्रव्य जनक है, द्रव्य ध्रुव है और पर्याय उत्पाद व्यय रूप है, "यथा"

पर्येति उत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति स एवार्थः
सोऽस्ति यस्यासौ पर्यायार्थिक ॥

(रत्नाकरावतारिका)

अर्थ—"पर्येति" परि=नवीनतापने, एति=प्राप्त होना। उत्पाद व्यय को प्राप्त हो, उसे पर्यायार्थिक कहते हैं। इन्हीं द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक दोनों धर्म को द्रव्य पर्याय भी कहते हैं।

प्रश्न—द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक दो भेद कहते हो, इसी प्रकार गुणार्थिक तीसरा भेद क्यों नहीं कहते ?

उत्तर पर्यायार्थिक के दो भेद हैं सहभावी और क्रमभावी। सहभावी गुण, पर्याय के अन्तर्भूत हैं गुणार्थिक कहते हो यह, पर्याय के अन्तर भूत हैं, इस लिये पर्यायार्थिक में इस का समावेश होता है। 'यथा'

गुणस्य पर्याय एवान्तर्भूतत्वात् तेन पर्यायार्थिकेनैव तद् संग्रहात् ॥

(रत्नाकरावतारिका)

प्रश्न—द्रव्य पर्याय के अतिरिक्त सामान्य, विशेष यह जो धर्म और भी हैं। इस नय क्या नहीं मानते ?

उत्तर—सामान्य धर्म को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं, और विशेष धर्म को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। यहां केवल शब्द मात्र का भेद है। वस्तु के एक ही गुण को ग्रहण करना यह सामान्य दृष्टि है, और उसके रंग रूप, स्वाद आकारादि अनेक गुणों को ग्रहण करना यह विशेष दृष्टी है इस सामान्य विशेष का नाम ही द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक है। "यथा"

सामान्य विशेषोऽपि द्रव्यपर्याये एवान्तर भवति नैतान्यमाधिक्नयावकाश ॥

इसलिये सामान्य, विशेष को भिन्न कहना योग्य नहीं है।

॥ द्रव्यार्थि, पर्यायार्थि नय के भेद ॥

तत्र द्रव्यार्थिकश्चतुर्धा नेगम, संग्रह व्यवहार, रिजुसूत्र भेदात्। पर्यायार्थिकस्त्रिधा शब्द, समभिरूढ, एवं भूत भेदात् विकल्पान्तरे रिजुसूत्रस्य पर्यायार्थिकताप्यस्ति ॥

अर्थ— द्रव्यार्थिक नय के चार भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार और रिजुसूत्र। तथा पर्यायार्थिक नय के तीन भेद। शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। कई आचार्य रिजुसूत्र नय को पर्यायार्थिक भी कहते हैं। इसलिये कहा कहीं द्रव्यार्थिक के तीन और पर्यायार्थिक के चार भेद भी पाये जाते हैं।

॥ नैगम नय का लक्षण ॥

न एकोगमा आशय विशेषा यस्य स नैगम ॥

अर्थ— नहीं है, एक अभिप्राय जिसका, उसको नैगम नय कहते हैं। अर्थात् नैगम नय अनेक आशय युक्त है।

॥ नैगम नय के भेद ॥

स नैगमस्त्रिप्रकारा आरोपांश संकल्प भेदात् 'विशेषावश्यके' तूपचारस्य भिन्नग्रहणात् चतुर्विध । तत्र चतु प्रकारारोप द्रव्यारोप गुणारोप कालारोप कारणारोप भेदात् ।

१ तत्र गुणे द्रव्यारोप = पंचास्तिकाय वर्तना-गुणस्य कालस्य द्रव्य कथन एतद् गुणे द्रव्यारोप ॥

२- ज्ञानमेवात्मा = अत्र द्रव्येगुणारोप ॥

३- कालारोप = यथा १ वर्तमानकाले अतीत कालारोप अद्यदीपोत्सवेवीरनिर्वाण, २ वर्तमानकाले

अनागतकालारोपः अर्थैवपद् मनाभनिर्वाण एवमष्टभेदा।
४ कारणे कार्यारोप बाह्यक्रियायाधर्मत्व धर्मकार-
णस्य धर्मत्वेन कथनम् ॥ इत्यारोप ।
सङ्कल्पो द्विविध = स्वपरिणामरूप कालान्तर
परिणामरूप ॥ अंशो ऽपि द्विविध = भिन्नो ऽ
भिन्नश्चापादि । एतद् भेदोर्नैगम ॥

अर्थ— 'नैगम नय' के तीन भेद हैं १ आरोप, २ अंश,३ संकल्प।
विशेषावश्यक में उपचार रूप चौथा भेद भी कहा है । तथा —आरोप नैगम
के चार भेद- १ द्रव्यारोप, २ गुणारोप, ३ कालारोप, ४ कारणादिरोप।
१ द्रव्य रोप — गुण विषय द्रव्य का आरोप करना उसे द्रव्यारोप कहते
हैं। जैसे— काल पञ्चास्तिकाय का वर्तना गुण है। पिंडरूप से यह भिन्न
नहीं है। केवल वस्तु का परिणमन धर्म है। तथापि आरोप मात्र से उसे
द्रव्य कहा इति। 'गुणे द्रव्यारोप' अर्थात गुण में द्रव्य का आरोप माना
यह आरोपमात्र द्रव्य है। २ गुणारोप = द्रव्य में गुण का आरोप करना
जैसे— 'ज्ञानमयात्मा' अर्थात ज्ञान ही आत्मा है। ज्ञान आत्मा नहीं है।
किंतु ज्ञान आत्मा का गुण है। तथापि यहां ज्ञान को आत्मा कहा, यह
गुण में द्रव्य का आरोप है। इति गुणेद्रव्यारोप'। ३ कालारोप = वीर
निर्वाण हुवे बहुत काल हुआ,परन्तु आज दिवाली के दिन वीरभगवान का
निर्वाण हुआ कहते हैं। यह वर्तमान में अतीत काल का आरोप है। तथा
आज पद्मनाभ प्रभू का निर्वाण है, ऐसा कहते हैं। यह वर्तमान में अना-
गत काल का आरोप है। जैसे वर्तमान में आरोप के दो भेद कहे । इसी

प्रकार अतीत में वर्तमान, अनागत का आरोप तथा अनागतमें वर्तमान, भूत का आरोप करने से छः भेद होते हैं। ४ कारणारोप = कारण में कार्य का आरोप करना जिसके चार भेद १ उपादान का २ निमित्त का ३ असाधारण का और ४ अपेक्षा कारण। जैसे बाह्य क्रिया को ही, धर्म कहना। इसी प्रकार तीर्थङ्कर मोक्ष के कारण हैं। "ऽ ताणाणं तारयाणं" कहना, यह कारण विषयकता का आरोप है। इस तरह आरोपनाके अनेक प्रकार है ॥ इत्यारोप ॥

सकल्प नैगम नय के दो भेद १ स्वपरिणाम रूप = चेतना वीर्य गुण का सवान, नवीन क्षयोपशम, २ कार्यान्तर परिणाम = कार्यान्तर के नवान २ कार्य से नवीनपने उपयोग का होना।

३ अंश नैगम के दो भेद १ भिन्नांश = जुदे २ अंश स्कंधादि २ अभिन्नांश = आत्मा के प्रदेश तथा गुण के अविभाग इत्यादि। सौ भेद भी नैगम के हैं।

॥ संग्रह नय का लक्षण ॥

सामान्य वस्तु सत्ता संग्राहक संग्रह. ॥

अर्थ— 'संग्रह नय का लक्षण' सामान्य रूप से वस्तु का नित्यत्वादि धर्म जो सत्ता में रहा हुआ है। उसे संग्रह करे वह संग्रह नय। यथा— 'एगे आया', 'एगे पुग्गले'।

॥ संग्रह नय का भेद ॥

स द्विविध सामान्य संग्रहो विशेषसंग्रहश्च,

सामान्य संग्रहो द्विविध मूलत उत्तरतश्च मूलतो ऽ-स्तित्वादि भेदत षडविध ,उत्तरो जाति समुदायभेद रूप जातित गवि गोत्व, घट घटत्व , वनस्पतौ वनस्पतित्व, समुदायतो सहकारा णके वनसहकारवन मनुष्य समूह मनुष्यवृन्द , इत्यादि समुदायरूप अथवा द्रव्य मिति सामान्य संग्रह जीव इति विशेष संग्रह ॥

अर्थ— संग्रह नय के मुख्य दो भेद हैं । सामान्य संग्रह और विशेष संग्रह । सामान्य संग्रह के दो भेद मूल सामान्य संग्रह और उत्तर सामान्य संग्रह । मूल सामान्य संग्रह के छः भेद हैं- जो सामान्य स्वभाव के अ स्तित्वादि छः भेद बताये हैं वे पिछले प्रकरण में लिख हैं । उत्तर सामान्य संग्रह के दो भेद जाति सामान्य और समुदाय सामान्य संग्रह । जैसे गायो में गोत्वरूप जाति है । घट में घटत्व और वनस्पति में वनस्पति पना । यह जाति वाचक उत्तर सामान्य संग्रह है । तथा आम के समूह को आम्रवन कहना, मनुष्य के समूह को मनुष्यगण कहना, यह समुदाय वाचक उत्तर सामान्य संग्रह है । उत्तर सामान्य संग्रह चक्षु अचक्षु दर्शन ग्राह्य है । और मूल सामान्य संग्रह अवधिदर्शन, केवल दर्शन ग्राही है ।

'द्रव्यमिति सामान्य संग्रह' यह द्रव्य को द्रव्य रूप से एकत्वभाव मान कर द्रव्य कहना, इसको सामान्य संग्रह कहते हैं । तथा जीव इति । अर्थात् द्रव्य पृथक् हुआ । यह विशेष संग्रह ॥ "तथा च"

(आवश्यके)

समहण सगिन्हइ सगिन्हज्झते व तेणजमेया ।
तो सुगहोनि सग्रहिय पिंडयत्य वओ छम्म ॥
(विशेषावश्यक गाथा २२०३)

॥ तस्य व्याख्या ॥

सग्रहण सामान्यरूपतया सर्ववस्तुनामात्रोडन मग्रह अथवा सामान्यरूपतया सर्व गृह्णातीति सग्रह ता सर्वेपि भेदा सामान्यरूपतया मग्रह्यन्ते अनेनेति सग्रह, अथवा सग्रह त पिण्डित तन्वार्थोऽभिधेय यस्य तत् सगृहीतपिण्डितार्थ एव भूत वचो यस्य मग्रहस्येति । मगृहीतपिण्डित तत् किमुच्यत इत्याह ।

मगहियमागहिय सपिडियमेगनाइमाणीय ॥
सगहियमणुगमो वा वहरेगो पिडिय भणीय ॥
(विशेषावश्यक गाथा २२०४)

॥ तस्य व्याख्या ॥

सामान्याभिमुख्येन मग्रहण मगृहीत सग्रह उच्यते, पिण्डित स्वकजातिमानितमभिधियत पिण्डित सग्रह, अथवा मर्वव्यक्ति

विशेषावश्यक की गाथाओ के अक जिन हैं-वे छपे हुए विशेषावश्यक से लिये हैं ।

ऽनुगतस्य सामानस्य प्रतिपादनमनुगम मग्रहोऽमिधियते, व्यतिरेकस्तु तदितरधर्मनिषेधात् ग्राह्यधर्म सग्रहकारक व्यतिरेक सग्रहो भण्यते यथा-नीवोऽजीव इति निषेधे जीव सग्रह एव जाता ज्ञात १ सग्रह २ पिण्डताथ, ३ अनुगम ४ व्यतिरेक भेदात् चतुर्विध ।।

अर्थ—"सगहणं" यह विशषावश्यक सूत्र की मूल गाथा है, और "सग्रहण०" यह उसकी ✻ व्याख्या=टीका है ।। एक वचन, एक अध्यवसाय, वा एक उपयोग से एक समय एक साथ वस्तु का ग्रहण करना, या सामान्य रूप म उच्चारण करना, उमको सग्रह नय कहते हैं। अथवा सामान्य रूप स सब ग्रहण करे उसे सग्रह नय कहते हैं। अथवा जिससे सब भेद सामान्यपन ग्रहण किये जाय, उसे सग्रह नय कहते हैं। या "सगृत पिण्डित" जो वचन समुदाय अर्थ को ग्रहण कर उस को सग्रह नय कहते हैं। इसके चार भेद हैं-(१) सगृहीत सग्रह, (२) पिंडित सग्रह, (३) अनुगम सग्रह, (४) व्यतिरक सग्रह।

(१) सगृहीत सग्रह—विना पृथक् किये सामान्यरूप से वस्तु को ग्रहण करे ऐसा उपयोग या वचन या धर्म किसी वस्तु में हो, उस सगृहीत सग्रह कहते हैं।

(२) पिण्डित सग्रह—एक जाति में एकत्व भाव मान के उस में सब

✻ मूल और व्याख्या का पूरा अनुवाद विशेषावश्यक का गुजराती अनुवाद देखें।

का समावेश करे, जैसे एगे आया, एगे पुग्गले इत्यादि, वस्तु अनेक हैं। तथापि जाति एक होने से एक आत्मा कह के उस में सब का समावेश करना ऐसे ही एक पुद्‌गल इत्यादि एक जातित्व ग्रहण करे उन विविहित-समह कहते हैं।

(३) अनुगम संग्रह—अनेक जाव अनेक व्यक्ति रूप हैं, उन सब में जिस धर्म का सामान्यपना हो। जैसे सत्, चित् मय आत्मा यह धर्म सब जावा में सदृश है। इसको अनुगम संग्रह कहते हैं।

(४) व्यतिरेक संग्रह—जिसके बिना कह इतर वस्तु या धर्म का बोध हो-जैन-अजीव इस वाक्य मे जीव नहीं वह अजीव परन्तु कोइ कोइ जीव भी हैं। ऐसे व्यतिरेक वचन की सिद्धि हुइ। या उपयोग से जीव का ग्रहण हुआ उसे व्यतिरेक संग्रह कहते हैं। पुनः संग्रह अवबोध के लिये और भी कहा है।

> समस्ताख्य महासामान्य संगृह्णाति इतरस्तु गोत्वादि-
> कमवान्तरसामान्य पिण्डितार्थमभिधियते महासत्तारूप
> अवान्तर सत्तारूप।

इस प्रकार विशेषावश्यक में संग्रह नय के महासामान्य और अवान्तर सामान्य रूप दो भेद भी कहे हैं। "यथा"

* एगा निच्च निरवयवमक्किय मरगग च सामान्न

---

* एक सामाय सवत्र तथैव भावात् तथा नित्य सामान्य अविनाशात् तथा निरवयव अंशत्यात् अक्रिय देशान्तरगमना भावात् सवगत च सामान्य अक्रियत्वादिति एतद् महा सामान्य गवि गोत्वादिवमवान्तर सामान्य इति संग्रह ॥

एतद् महा सामान्य गवि गोत्वादिकमवान्तर सामान्य इति मग्रह । सदिति र्भाणयम्मि जम्हा जव्वत्थाणुप्प-वत्तए बुद्धि ॥ तो सव्व तम्मता नत्थि तदत्थांतर किं चि ॥१॥

(विशेषावश्यक गाथा २२०७)

॥ तस्य व्याख्या ॥

यद्यस्मात् सदित्यव भणित सर्वत्र भुवनत्रयाभ्यांतरगत-वस्तुनि बुद्धिरनुप्रवर्तते प्रधावति नहि तत् किमपि वस्तु अस्ति यत् सदित्युक्तो झगिति बुद्धौ न प्रतिभासते तस्मात् सर्व सत्तामात्र न पुन अर्थान्तर तत् श्रुतसामर्थ्यत् यत् संग्रहेन संगृह्यते तेन परिणमनरूपत्वादेर संग्रहस्येते ॥

अर्थ—"सदिति"= सत् यह वाक्य लोकालोक अन्तरगत रही हुई समस्त वस्तुओं में घटित होता है। विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं है। जिस में सत् लक्षण न पाया जाय। यह लक्षण समस्त पदार्थों में एक समान रहा हुआ है। चाहे उसका प्रभास बुद्धि में न होता हो। परन्तु वस्तु सत्ता में यह अवश्य है। यह महा सामान्य संग्रह नय कहलाता है। तथा गोत्व, गजत्वादि पृथक् करण यह अवान्तर संग्रह कहलाता है।

॥ व्यवहार नय लक्षण ॥

संग्रहगृहीतवस्तु भेदान्तरेण विभजन व्यवहरण प्रवर्तनम् वा, व्यवहार ॥

अर्थ—' व्यवहार नय का लक्षण" संग्रह नय संग्रहित वस्तु को भेदान्तर विभाजन करना। जैसे द्रव्य यह संग्रहात्मक नाम है। विभाजन करने पर इसके दो भेद जीव, अजीव तथा जीव के सिद्ध संसारी इत्यादि को व्यवहार नय कहते हैं। अथवा वस्तु में प्रवर्तनात्मक रहा हुआ परिणमन धर्म उसे व्यवहार नय कहते हैं। जिसके दो भेद॥

"यथा"

॥ व्यवहार नय के भेद ॥

स द्विविध शुद्धोऽशुद्धश्च, शुद्धो द्विविध १ वस्तुगत व्यवहार धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां च स्वचलनसहकारादि जीवस्य लोकालोकादि ज्ञानादिरूप २ स्व सम्पूर्णपरमात्मभावसाधनरूपी गुणसाधकावस्थारूप गुणश्रेण्यारोहादि साधन शुद्धव्यवहार । अशुद्धोपिद्विविध सद्भूतासद्भूत भेदात् सद्भूतव्यवहारो ज्ञानादिगुण परस्पर भिन्न । असद् भूतव्यवहार कषाया सादि मनुष्योऽहं देवोऽहं, सोऽपि द्विविध संश्लेषिता शुद्ध व्यवहार शरीरो मम अहम् शरीरी, असंश्लेषिता शुद्ध व्यवहार पुत्रकलत्रादि तौ च उपचारितानुपचारिता व्यवहार भेदात् द्विविधौ ।

अर्थ—व्यवहार नय के दो भेद हैं, (१) शुद्धव्यवहार नय, (२) अशुद्धव्यवहार नय । शुद्धव्यवहार नय के दो भेद, (१) वस्तुगत

(२) साधन शुद्धव्यहार, समस्त द्रव्य में रही हुइ स्वरूपानुयायी शुद्ध प्रवृत्ति को वस्तुगत शुद्धव्यवहार कहते हैं। जैन-धर्मास्तिकाय का चलन सहकारीपना, अधर्मास्तिकाय का स्थिर सहकारीपना तथा जीवास्तिकाय का ज्ञायकत्व धम, इत्यादि। स्व स्वरूपानुयायि प्रवृत्ति वस्तुगत शुद्ध व्यवहार नय है॥ जीवादि द्रव्य की विशुद्धि क लिये अथवा गुणप्रवृत्ति हेतु रत्न त्रयी शुद्धता, वा गुणश्रेणी विषयक श्रेण्यारोह रूप साधन को साधन शुद्ध व्यवहार नय कहते हैं।

अशुद्ध व्यवहार नय के दो भेद (१) सद्भूत व्यवहार (२) असद्भूत व्यवहार। सद्भूत व्यवहार=चेतनत्व और ज्ञानादिगुण जीव में अभेद रूप से रहे हैं। उने भेद विवक्षा से प्रतिपादन करना। उसे सद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। असद्भूत व्यवहार=मैं क्रोधी, मैं मानी मैं देवता, मैं मनुष्य इत्यादि यह अशुद्ध व्यवहार है। आत्मा का स्वगुण नहीं किन्तु कर्म प्रकृति के विपाक फल स्वरूप उदय सम्प्राप्त परभाव परिणती है। यथार्थ ज्ञान क बिना वह उसे एकत्व रूप से मानता है, इसे असद् भूत व्यवहार नय कहते है। पुन इस असद् भूत व्यवहार नय के भी दो भेद है। स श्लेषित असद् भूत और अस श्लेषित असद् भूत। (१) स श्लेषित असद् भूत=जैन शरीर मेरा या मैं शरीरी इत्यादि, (२) अस श्लेषित असद् भूत०=जैसे पुत्र मेरा, धन मेरा और अस श्लेषित असद् भूत व्यवहार के दो भेद, (१) उपचरित, (२) अनुपचरित इत्यादि। तथा पुन "उक्तंच"

ववहरण वनहरए म तेण व वहीरए म मामान्न ।
ववहारपरो म जओ विसेमम्रा तेण ववहारो ॥
(विशेषावश्यक गाथा २२१२)

॥ व्याख्या ॥

* व्यवहरण व्यवहार व्यवहृति म ःनि वा व्यवहार, विशेषतो व्यवहृयते निराक्रियते मामान्यतेनेति व्यवहार लोको व्यवहार-परो वा विशेषतो यस्मातेन व्यवहार । न व्यवहारास्वस्वधर्म प्रवर्तिन रिजे मामान्य मित्ति स्वगुणप्रवृतिरूप व्यवहारस्यैव वस्तुत्व तमंतरेण तदभावात् म द्विविध विभिन्न, प्रवृत्ति भेदात् । प्रवृत्तिव्यवहारस्त्रिधा वस्तुप्रवृत्ति, साधनप्रवृति, लोकप्रवृत्ति, साधनप्रवृत्तिस्त्रेधा लोकात्तर लौकिक कुप्रावचनिक भेदात् ।
(विशेषावश्यक भाष्य)

अर्थ—विशेषावश्यक महा भाष्य में कहा है कि व्यवहार नय के मुख्य

---

* विशेषावश्यक भाष्य में व्यवहार का लक्षण इस प्रकार है । व्यवहार किया जाय वह व्यवहार या व्यवहार करता है, वह व्यवहार अथवा विशेष को स्थापित करके सामान्य का तिरस्कार करे उसे व्यवहार कहते है या लोक व्यवहार विशेष रूप तत्पर होने से इसे व्यवहार नय कहते हैं ।

दो भेद है- (१) विभाजन = विभाग रूप★ व्यवहाररूप, (२) प्रवृत्ति रूप व्यवहार नय। प्रवृत्ति रूप व्यवहार नय के तीन भेद- वस्तु🙏 प्रवृत्ति, साधन प्रवृत्ति, लौकिक प्रवृत्ति। पुन साधन प्रवृत्ति के तीन भेद- (१) लौकोत्तर = जिज्ञासा सहित शुद्ध साधन मार्ग इह लोक पौद्गलिक भोग आशादि दोष रहित, रत्नत्रयी परिणति, परभाव त्याग सहित को लोकोत्तर साधन प्रवृति कहते हैं। (२) लौकिक = स्वस्थ देश कुल मर्यादा प्रवृति को लौकिक साधन प्रवृति व्यवहार नय कहते हैं। (३) कुप्रावचनिक = स्याद्वाद के बिना मिथ्याभिनिवेश साधन प्रवृति को कुप्रावचनिक साधन प्रवृति कहते हैं। इत्यादि व्यवहार नय के अनेक भेद हैं, तथा द्वादशसार नय चक्र में प्रत्येक नय के सौ सौ भेद कहे हैं, तत्व जिज्ञासा वाला को उक्त ग्रंथ अवलोकन करना चाहिये।

॥ रिजु सूत्र नय का लक्षण ॥

उज्ज ऋजु सुयनाणमुज्जुसुयमस्स सो ऽयमुज्जसुज्जो
सुत्तयइ वा जमुज्ज वत्थु तेणुज्जुसुत्तोत्ति ॥
(विशेषावश्यक गाथा २२२२)

★ विभाग व्यवहार को पहले समझा चुके हैं।
🙏 वस्तु प्रवृत्ति को उपगम शुद्ध साधन व्यवहार नय मे समझा चुके हैं।

॥ व्याख्या ॥

उऊ त्ति रिजुश्रुत सुज्ञान बोधरूप ततश्च रिजु श्रयत्रमश्रुतमस्य सोऽयरिजु श्रु त वा रिजु श्रयक/ वस्तु सूत्रयतीति रिजसूत्र इति कथ पुनरतदभ्यु-पगतस्य वस्तुनोऽवक्रत्व मित्याह ।

अर्थ— 'उज्जु = ऋजु अर्थात् सरल श्रुतज्ञान बोधरूप को ऋजुसूत्र नय कहते हैं। या ऋजु शब्द से अवक्र याने सम है श्रुत, उसको ऋजु सूत्र कहते हैं। या ऋजु = अवक्रपने वस्तु को जाने उसको ऋजुसूत्र नय कहते हैं। पुन वस्तु का वक्रपनाजानने के लिये आगे गाथा कह कर समझाते हैं। 'यथा'—

पच्चुपन्न सपयमुप्पन्न ज च जस्सपत्तेयं।
त रिजु तदव तमयत्थि उवक्क मन्न ति जमसत ॥
विशेषावश्यक गाथा २२२३

॥ व्याख्या ॥

यत्सांप्रतमुत्पन्न वर्तमान कालीन वस्तु यच्च यस्य प्रत्येकमात्मीयतदव तदुभय स्वरुप वस्तु प्रत्युप न-मुच्यते तदेवासौ नय रिजू प्रति पद्यते तदव च वर्त-मानकालीन वस्तु । तस्यार्जुसूत्रस्यास्ति अन्यत्र

गेपातीतानागत परसार्य च यद्यस्मात् असद्विद्यमान ततो अमरवादेव तद्वस्मिच्छत्यासानिति अर्तव उक्त निर्युक्तिकृता 'पन्चुपन्नगाही उजुसुनयविही मुणेयव्वोति' ॥ या कालत्रय वतमानमन्तरेण वस्तुत्व उक्त च यत अतीत अनागत भविष्यति न साम्प्रतम् तद् वर्तते इति वर्तमान स्येव वस्तुत्वमिति अतीतस्य करणता अनागतस्य कार्यता जन्यजनक भावेन प्रवर्तते अत रिजुसूत्र वर्तमानग्राहक तद् वर्तमान नामादि चतु प्रकार ग्राह्यम ॥

अर्थ— (पन्चुपन्न इत्यादि) की व्याख्या में 'यत्साम्प्रतम' अर्थात् वर्तमान पने उत्पन्न हुआ । वर्तमान कालीन वस्तु अथवा स्वकीय (स्वरूपानुयायी) वस्तु को प्रत्युत्पन्न कहते हैं । इस स्वरूपावलम्बी वस्तु को यह नय अवश्य मानता है । इस ऋजु सूत्र नय कहते हैं । इससे विपरीत वस्तु अविद्यमान होने से वक्र कहलाती है । वह इस नय के लिये अग्राह्य है । क्योंकि अतीत वस्तु विनाश रूप है । अनागत वस्तु विद्यमान नहीं है । इसलिये उभय स्वरूप म वस्तु आकाश पुष्पवत् अनुपलब्ध है । अर्थात् वस्तु रूप नहीं है । यह नय केवल वर्तमान पर्याय से ही वस्तु को वस्तुरूप मानता है ।

प्रश्न— ससारी जीवों को आप सिद्ध समान मानते हैं परन्तु वे अनागत काल में सिद्ध होने वाले हैं, इसलिये अनागत काल को अवस्तु

क्या कहते हो ?

उत्तर—हे भद्र ! अनागत भावी के लिये यह कथन नहीं, किंतु अस्ति रूप म सत्र गुण आत्म प्रदेशों में विद्यमान हैं। तथापि आवरण लोप से वे प्रगट रूप नहीं होने तिरोभावी है। पूर परगत् काल को ग्रहण कर वस्तु को वस्तुरूप प्रतिपादन करना यह आरोप नैगम नय का विषय है। केवल ज्ञानादि सत्र गुणों का आत्मा में सद्भाव है, इसलिये इस सिद्ध कहा है।

नियुक्तिकार भी कहते हैं, "पच्चुपन्नगाही" प्रत्युत्पन्न ग्राही= वर्तमान काल ग्राही ऋजु सूत्र नय है। भूत, भविष्य वस्तुकार्य साधक नहीं हो सकती। अतीत कारणता, अनागत कार्यता रूप जन्य जनक भाव है। इस लिये ऋजु सूत्र नय केवल वतमान ग्राही है, और वर्तमान वस्तु चार निक्षेप सयुक्त ग्रहण का जाता है। नामादि चार निक्षेप हैं, वे ऋजु सूत्र नय के भेद हैं। नामादि तीन निक्षेप द्रव्य हैं, और भाव निक्षेप भाव रूप है। यह व्याख्या कारण, कार्य भाव विवेचन करने के लिये है, परन्तु वस्तु में स्वाभाविक चार निक्षेप वे भाव धर्म हा हैं, और वे स्वकार्य क र्ता हैं। दिगम्बराचार्य ऋजु सूत्र नय के दो भेद कहते हैं। (१) सूक्ष्म ऋजु सूत्र नय (२) स्थूल ऋजु सूत्र नय। वतमान का एक समय ग्राही सूक्ष्म ऋजु सूत्र नय है। यह काला पर्यायी भाव है, इस लिये इस भाव नय भी कहते हैं और योगालम्बी धर्म यह बाह्य रूप हैं। इस कारण इसे द्रव्य नय भी कहते हैं। अर्थात् ऋजुसूत्र नय को द्रव्य नय और भाव नय [illegible] गणा की है। इति ऋजुसूत्र नय॥

॥ शब्द नय का लक्षण ॥

'शप आक्रोशे' सपनमाह्वानमिति शब्द , सपतीती वा आह्वानयतीति शब्द', शप्यते आहूयते वस्तु अननिति शब्द', तस्य शब्दस्य यो वाच्यार्थस्तत्परिग्रहत्तत्प्रधानात्वान्नय शब्द। यथा-कृत्वादित्यादिक पचम्यन्त शब्दोपि हेतु। अर्थस्य कृतकत्वमनि त्यत्वगमकत्वान्मुख्यतया हेतु रूच्यते उपचारस्तु तद्वाचक कृतत्त्वशब्दो हेतुरभिधीयते एवमिहापि शब्दवाच्यार्थपरिग्रहादुपचारण नयोऽपि शब्दो व्यपदिश्यते इति भाव. । यथा रीजुसूत्रनयस्याभीष्ट प्रत्युत्पन्नं वर्तमान तथैव इच्छत्यसौ शब्दनय । यथन्मात्पृथुबुध्नोदरकलितमृन्मयो जल हरणादि क्रियाक्षम प्रसिद्धघटरूप भावघटमेवेच्छत्यमौ न तु शेषान् नामस्थापनाद्रव्यरूपान् त्रीन् घटानिति। शब्दार्थ प्रधानो ह्येव' नयः, चेष्टालक्षरच घटशब्दार्थो घटचेष्टाया, घटत इति घट अतो जलाहरणादि चेष्टाकुर्वन् घट' । अतश्चतुरोऽपि नामादि घटानिच्छत रीजुसूत्रा द्विशेपिततर वस्तु इच्छति अमौ। शब्दार्थोपपत्तेर्भीन घटम्यैवानेनाभ्युपगमादिति, अथवा रीजु सूत्रात् शब्दनय विशेपिततर रीजुसूत्रे सामान्येन घटोभिप्रेत, शब्देन तु सद्भावादिरनेकधर्मैरभिप्रेत इति ते च भप्त भगा पूर्व उक्ता इति ॥

अर्थ—शब्द नय का स्वरूप कहते हैं। "शपति" बुलाना पुकारना उसे शब्द कहते हैं, शप्यते" वस्तु का नाम लेकर पुकारा जाय उसे शब्द कहते हैं। अथवा जिस शब्द का जो वाच्य अर्थ ग्राहापना प्रधान रूप है, जिस नय में उसे शब्दनय कहते हैं। जैन निर्माण की हुइ को कृतक कहते हैं उस "कृतकत्व" वस्तु में उस शब्द का कारण विद्यमान हो, यह कारण ही वस्तु धर्म है। उस भाषा द्वारा कहना अर्थात् शब्द का कारण वस्तु धर्म हुआ। जैसे जल हरण धर्म जिस में हो उस घट कहना। यहा भी शब्द से वाच्य अर्थ का ग्रहण हुआ, इसलिये इस नय का नाम शब्द नय है।

"कृतकत्व" क्रिया—निर्माण यह वर्तमान है। अतः शब्द के अर्थ की अनित्यता में स्वयं शब्द भी प्रमाण है। अर्थ रूप की अनित्यता में यहां शब्द ही मुख्य हेतु है। तात्पर्य यह है कि शब्द के अर्थ की अनित्यता में शब्द गौण हेतु है। और अर्थ मुख्य हेतु है। उपचार से तो वस्तु का अर्थ प्रतिपाद्य उच्चारण ही शब्द कहा जाता है। इस प्रकार शब्द वाच्य अर्थ भाग्री होने से इसे शब्द नय कहते हैं। जैसे घड़ा घट जिस का पट बन्द हो, गोल हो, गला सकरा हो, जल भरने की क्रिया में समर्थ हो। ऐसा प्रसिद्ध रूप भव घट उसी को घटरूप इन्द्र=समझे, परन्तु शेष तीन नाम, स्थापना और द्रव्य को शब्द नय घटरूप नहीं मानता। अर्थात् घट शब्द के अर्थ का संकेत जिस में हो उसे घट कहे। घट धातु चेष्टावाची है। अतः शब्द नय घटरूप चेष्टा करते हुये को ही घट मानता है। और ऋजुसूत्र नय को चारों निक्षेप रूप घट मान्य हैं और शब्द नय को भाव घट ही घटरूप मान्य है। शब्द के अर्थ की व्युत्पत्ती

सहित वस्तु-वस्तुरूप माने। ऋजुसूत्र नय सामान्य घट धर्म ग्राही है और शब्द नय विशेष धम 'सद्भाव, असद्भाव, अस्ति नास्ति' युक्त वस्तु को वस्तु रूप मानता है और वस्तु के शब्दोच्चार में सात भागे होते हैं। उस सप्तभगी * कहते हैं। यह शब्द नय के भेद हैं। सप्तभंगी का स्वरूप पहले कर आये है। शब्दादि तीन नय वस्तु पर्यायानलम्बी भावधम ग्राहा है। अत भाव निक्षेप की मुख्यता है और पूर्व के नैगमादि चार नय मुख्य रूप से नामादि तीन निक्षेप ग्राही है। इति शब्द नय॥

॥ शब्द समभिरूढ नय का भेद ॥

एकस्मिन्नपि इन्द्रादिके वस्तुनि यावत् इन्द्रशक्रपुरदारणादयोऽर्था

---

* अहवा पच्चुप्पन्नो रिउसुत्तसा निसेसिम्रो चेव।
कु मोविसेसियपरो सब्भावाइहिं सद्दस्स॥२२३१॥
सद्भावासद्भावो भवप्पिम्रो स परपज्जओ भयश्रो।
कु भाऽकु भाऽवत्तव्वोभयरूवाइ भेम्रो सो॥२२३२॥

(विशेषावश्यक भाष्य गाथा २२३१-२२३२)

अर्थ—विशेषावश्यक भाष्य कार-ऋजुसूत्र नय को सामान्य धर्म प्रत्युत्पन्न घट मान्य है और शब्द नय को वही घट सद्भाव, असद्भाव आदि विशेष धम स मान्य है। अत सद्भाव, असद्भाव, उभयभाव। स्वपर्याय, परपर्याय, उभयपर्याय। घट, अघट, अवक्तव्यघट उभय रूपादि में यह शब्द नय घट मानता है।

घटन्ते तदेवशनेन्द्रशक्राद् बहुपर्यायमपि तद्वस्तु शब्दनयो मन्यते समभिरूढनयस्तु नैव मन्यत इत्यनयो भेद ॥

अर्थ—शब्द नय है वह एक पर्याय युक्त इन्द्र को देख कर उसे सब नामों से पुकारे, शक्र, इन्द्र, पुरन्द्र इत्यादि। परन्तु समभिरूढ को यह मान्य नहीं है। वह शक्न=नवीन ? शक्ति युक्त को शक्र कहे, एवा इदि धातु ऐश्वर अर्थ वाली है, ऐश्वर्य वान को इन्द्र कहे। पुर=दैत्य दर=विदारणे, उसे पुरन्दर कहे। परन्तु नामादि का भिन्न भिन्न अर्थ कर। अतः समभिरूढ नयो कथ्यते "यथा"

॥ समभिरूढ नय लक्षण ॥

जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय समभिरोहए जम्हा।
सण्णंतरत्थविमुहो तओ नओ समभिरूढोत्ति ॥

(विशेषावश्यक गाथा २२२६)

॥ व्याख्या ॥

या या संज्ञाघटादिलक्षणं भाषते वदति ता तामेव यस्मात्सं-ज्ञान्तरार्थविमुख समभिरूढोनय नानार्थनामा एव भाषते यदि एक पर्यायम पेन्य सर्वपर्याय वाचकत्व तथा एक पर्यायाणा संकर पर्यायमन्त्र च वस्तुसंकरो भवत्येवति मा भूत्संकरदोष अत पर्यायान्तरानपेक्षएव समभिरूढनय इति।

अथ —जो जो सना घटादि लक्षण रूप में भासमान हो, उसी रूप में कहे, उस में जैसा सज्ञा अन्तर हो, वैसे ही अर्थ विमुख याने अर्थ का भी अन्तर हो, उस समभिरूढ नय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि घटादि वस्तु के नाम को सना कहते हैं। वस्तु घटादि रूप में भासमान हो उसी नाम स पुकारे। उस में जैसा जैसा सज्ञान्तर से नामान्तर हो, वैसे वैसे घटादि वस्तु का भी विमुखपना मानें। इस अभिप्राय को समभिरूढ नय कहते हैं। अर्थात् घट को घट कहे परन्तु कुम्भ को न कहे। यदि एक सज्ञा में सब नामान्तर मानने हैं, तो सकरता दोष प्राप्त होता है, और पर्याय का भेदपना नहीं रहता। पर्याय का अन्तरपना है, यह पर्याय के भेद से ही होता है। पर्याय सकरता से वस्तु सकरता होता है। इसलिये लिंग भेद की सापेक्षता से वस्तु भेदपना मानना यह समभिरूढ नय का मन्तव्य है। इस नय में भेदज्ञान का मुख्यता है।

॥ एव भूत नय स्वरूप ॥

एव जह सद्दत्थो सतो भूओ तदन्नहाभूओ।
तेणेय भूयनओ तद्दत्थपरो विसेसेण ॥
(विशेषावश्यक गाथा २२५१)

॥ व्याख्या ॥

एव यथा घटचेष्टायामित्यादिरूपेण शब्दार्थो व्यवस्थित तद्वत्ति तथैव यो वर्तत घटादिकोऽर्थ स एव सन् भूत विद्यमान "तदन्नहाभूओत्ति" वस्तु तदन्यथा शब्दार्थो

ञ्जयनेन वर्तते म तत्वतो घटाद्यर्थोपि न भवति क्रिभूतो विद्यमान येनैव मन्यते तेन कारणेन् शब्दनयममभिरूढ नयाभ्माम् सकाशादेव भूतनयो विशेषण शब्दार्थ नयतत्पर । अय हि योपिन्मस्तकारूढ जलहरणादि क्रियानिमित्त घटमानमेव चेष्टामानमेव घट मन्यते न तु गृहकोणादिव्यवस्थित । विशेषत. शब्दार्थतत्परोगमिति ।

वंजणमत्थणत्थ च वजणेणोभय विसेसइ ।
जह घडसद चेट्ठानया तहा तपि तेणेव ॥
(विशेषावश्यक गाथा २२५२)

॥ व्याख्या ॥

व्यनते अर्थाऽनेनेति व्यनन वाचक शब्दो घटादिस्त चेष्टावता एतद्वाच्यर्नोथ न विशिनष्टि स एव घट शब्दो यच्चेष्टावन्तमर्थं प्रतिपादयति नान्यम् इत्येव शब्दमर्थेन् नैयत्ये व्यवस्थापयतीत्यर्थ । तथार्थ मप्युक्त लक्षणमभिहितरूपण व्यजनेन विशेषयति चेष्टाप्यि मेव या घट शब्देन वाच्यत्वन् प्रसिद्धा योपि न्मस्तकारूढस्य जलहरणादिक्रियारूपा, न तु स्थानांतारण क्रियाविमिरा, इत्यरमर्थ शब्दन नैयत्ये स्थापयनीयर्थ इत्थे वमुभय विशेषयति शब्दार्थो नार्थ शब्दन नैयत्य

तात्पर्यं । एतदेवाह यदा योषित मस्तकस्थश्चेष्टा नयो घट शब्देनोच्यते स घट लक्षणोऽर्थ स च तद्वाचको घटशब्दः अन्यदा तु स्म एतत्स्येव तच्चेष्टा भावाद्घटस्य, घटध्वनेश्च वाचकत्व मित्येवमुभयविशेषक एवंभूतनय इति ॥

अर्थ—विशेषावश्यक भाष्य में एवं भूत नय का स्वरूप यथा "एवं जह सद्दत्थो" जिस प्रकार शब्दार्थ निश्चित है उसी प्रकार घटादि वस्तु भी हो तभी वह अर्थ विद्यमान है। अन्यथा अविद्यमान है। शब्दार्थपना जिस में नहीं है, वह वस्तु रूप नहीं है। शब्दार्थ में एक पर्याय भी न्यून हो तो एवं भूत नय वह अमान्य है। वह उसे वस्तुरूप नहीं मानता शब्द,, समभिरूढ नय से एवंभूतनय की यही विशेषता है।

एवं भूत नय का मन्तव्य है, कि घट जो स्त्री के मस्तक पर हो, पानी लेने की क्रिया निमित्त मार्ग में आता हो, पानी से संयुक्त हो, उसी को घट मान, परन्तु घर के कोने में पड़े=रखे हुए घट को घट रूप नहीं मानता। क्योंकि वह घटपने की क्रिया का अकर्ता है। यह (एवंभूत) नय विशेषतः शब्दार्थ तत्पर है।

"वंजणमत्थेणत्थं" व्यंजन को शब्द से और शब्द को व्यंजन से इस प्रकार उभयरूप से यह नय विशेषित (निश्चित) करता है। घट शब्द को चेष्टावान अर्थ से निश्चित करता है और उस चेष्टा अर्थ को शब्द से निश्चित करता है। जैसे-घट शब्द से उसी का बोध हो सकता है, जो चेष्टा अर्थ का प्रतिपादक हो, अन्य अर्थ का नहीं। इसी प्रकार शब्द का अर्थ से निश्चित कर, और चेष्टावान (घट) अर्थ भी यही

कहा जा सकता है, जो स्त्री के मस्तक पर हो। जलधारणादि क्रियारूप में प्रवर्तमान घट, घटरूप में नहीं है। इस प्रकार अर्थ को शब्द से निश्चित करे। इस उभयरूप का निश्चित कर्ता एवंभूत नय है।

पुनः सामान्य केवली को ज्ञानादि गुण की समानता के कारण समभिरूढनय उन्हें अरिहंत कह सकता है। परन्तु एवंभूतनय तो उसी को अरिहंत कहेगा, जो समवसरणादि अतिशय सम्पन्न सहित इन्द्रादि से पूजा सत्कार पाते हुवे, भव्य जीवों को देशना देते हों, अन्यथा अमान्य है। अतः वह वाच्य वाचक की पूर्णता को मानने वाला है ॥ इति एवंभूतनय ॥

इन सातों नयों का स्वरूप विशेषावश्यक सूत्र के अनुसार कहा गया है, इस में नैगम के १०, संग्रह के ६ या १२, व्यवहार के ८ या १४, ऋजुसूत्र के ४ या ६, शब्द के ७, समभिरूढ के २, और एवंभूत के १, इस प्रकार सब भेदों की व्याख्या की गई है। ग्रन्थान्तर सात सौ भेद की व्याख्या पाई जाती है।

पुनः स्याद्वाद रत्नाकर से

★ ॥ नय का लक्षण ॥

नीयते येन श्रुताख्यप्रमाण्य विषयी कृतस्यार्थस्य शम्ता-शस्तदितरांशौदासीन्यतः सम्प्रतिपत्तुरभिप्राय विशेषो नयः ।

★ प्रमाणनयतत्त्व० (४०७ सूत्र १)

अर्थ—स्याद्वादरत्नाकार ग्रन्थ मे नय का लक्षण कहते हैं। श्रुत ज्ञान से प्रमाणित किये हुए पदार्थ के अंश विषयी ज्ञान, और इतर =दूसर अंश में उदासी भाव रखता हो, ऐसा जो सम्यग् प्रकार से प्राप्त किया हुआ अभिप्राय विशेष को नय कहत हैं। अर्थात वस्तु के एक अंश को ग्रहण कर अन्य अंश प्रति उदासी भाव रहे, उसे नय कहत हैं।

॥ नया भास ॥

स्वभिप्रेताऽऽदेशादपराशापलापी पुनर्नयाभास

अर्थ—अपने ग्रहण किये हुये अभिप्रायिक अंशधर्मों से शेष अन्य अंशों का प्रतिरोधक = निषेध करे उसे नया भास कहत हैं। इसे दुर्नय कहते हैं।

॥ नय भेद ॥

स समासत द्विभेद द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक श्चाद्यो नैगम सग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र भेदाचतुर्द्धा कचित् रीजुसूत्र पर्यायार्थिक वदन्ति ते चेतनाशत्वेन निर्विकल्पस्य ऋजूसूत्रे ग्रहणात् श्री वीर-सामने मुख्यत परिणति चक्रस्यैव भावधर्मत्वेनागीकारात तेषा ऋजूसूत्र द्रव्यनयैन पर्यायार्थिकत्रीधा· शब्द समभिरूढ एव भूत भेदात्।

अर्थ—यह सामान्य रूप मे दो प्रकार है—(१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक के चार भेद नैगम, सग्रह, व्यवहार और

ऋजुसूत्र। कई आचार्य ऋजुसूत्र नय को पर्यायार्थिक भी कहते हैं। वे किसी अपेक्षा से चेतना अंश को भाव धर्म मानकर उसे पर्यायार्थिक कहते है। परन्तु सिद्धान्तकारों का मन्तव्य स्वरूपानुयायी परिणति चक्र ही मुख्यतया भावधर्म है और पर्यायार्थिक के तीन भेद हैं। शब्द, समभिरूढ़, और एवं भूत।

॥ नैगम नय का स्वरुप ॥

धर्मयोधर्म्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपमर्जन आरोपसंकल्पांशादिभावेनानेकगमग्रहणात्मको नैगम।

अर्थ—"नैगम नय का स्वरूप" -जो धर्म को प्रधानपने या गौण पन, या धर्मी को प्रधानपने तथा गौण पने, अथवा धर्म धर्मी दोनो को प्रधानपने या गौणपने माने। यहा धर्म की प्रधानता है वह पर्याय की प्रधानता हुई और धर्मी की प्रधानता है वह द्रव्य की प्रधानता हुई इसी प्रकार गौनपना भी समझ लेना। तथा धर्म धर्मी का प्रधान गौणपना इसी रीति से ऐसे द्रव्य पर्याय के गौण प्रधानपने ग्रहणरूप ज्ञानोपयोग वही नैगम नय है। इस अवबोध को नैगमाबोध भी कहते हैं। "तस्य दृष्टान्त यथा"

सत् चैतन्यात्मनाति धर्मयो ॥
गुणपर्यायवत् द्रव्य इति धार्मिणो ॥
क्षणमेकोसुखी विषयाशक्तो जीव इति धर्म धर्मीणो

सू मनिगोदीजीव मिद्धसमा सत्ताऽ अयोगिनो समागीति अशग्राही नैगम ॥

अर्थ—सत्ता और चैतन्य इन दो धर्मों में एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता अंगीकार कर उस धर्म विषयी नैगम नय कहते हैं। यहां चैतन्य नामक व्यञ्जन पर्याय को प्रधानपने माना क्योंकि चेतना यह विशेष गुण है और सत्ता नामक व्यञ्जन पर्याय सब द्रव्यों में समानरूप है, इस लिये उसे गौण समझा। यह नैगम का पहिला भेद है।

"गुणपर्यायवत द्रव्य" यह वाक्य धर्मी नैगम नय का है। यहां गुणपर्यायवान् द्रव्य = वस्तु कहा इस में द्रव्य का मुख्यपना है। तथापि गुणपर्याय से द्रव्य = वस्तु का पहिचान करवाता इसमें वस्तु द्रव्य का गौण पना है, और पर्याय का मुख्यपना है। यह नैगम नय का दूसरा भेद कहा।

"जणमेगो" इत्यादि यह धर्म धर्मी नैगम का वाक्य है। यहां जाव नामक धर्मी की मुख्यता विषयासक्त विशेषण से बताई और मुख्यता ज्ञान धर्म का प्रधानता विशेषणरूप से यहां बताई गई है। इस लिये धर्म, धर्मी उभय अवलम्बन रूप यह तीसरा भेद नैगम नय का है।

प्रश्न—धर्म, धर्मी दोनों का अवलम्बन = ग्रहण से सम्पूर्ण वस्तु ग्रहण होती है और सम्पूर्ण वस्तु ग्राह्य ज्ञान प्रमाणरूप है उसे न क्या कहते हो ?

सत्तापरामर्शरूप सग्रह', स परापर भेदात् द्विविध तत्र शुद्ध द्रव्य सन्मात्र ग्राहक परमग्रह चेतनालक्षणो जीव इत्यपरसग्रह ।

अर्थ--"सग्रह नय" सामान्य मात्र समस्त विशेष रहित सत्वद्रव्यादि को ग्रहण करने का है स्वभाव जिस का वह । स०=पिंडपने विशेष राशी को ग्रहण करता है, परन्तु व्यस्तपन नहीं ग्रहण करता । १३जाति का देखा हुआ, इष्ट अर्थ के विशेष धर्म को अविशेषपने एक रूप से ग्रहण करे, उसे सग्रह नय कहते हैं । इस के दो भेद हैं । (१) पर सग्रह (२) अपर सग्रह, इनमें "यथा"

अशेषविशेषोदासीन भजमान शुद्धद्रव्य सन्मात्रमभिमन्यमान परमग्रह इति ।।

समस्त विशेष धर्म स्थापित की भजना करने वाला अर्थात् विशेष धर्म को नहीं ग्रहण करना शुद्धद्रव्य सत्तामात्र को ही मान्य देता है। जैसे विश्व में जितने द्रव्य (वस्तु), उन सब में एकत्वपने का ज्ञानबोध, सत् लक्षण से होता है, उसे पर सग्रह नय कहते हैं। अन पदार्थ के एकपन को ग्रहण करे उसे परसग्रह कहते हैं।

।। सग्रहा भास ।।

सत्ताद्वैत स्वीकुर्वाण सकलविशेषान निराचक्षाण सग्रहाभास सग्रहस्यैकत्वेन 'एगे आया' इत्यभिज्ञानात् सत्ताद्वैत एव आत्मा तत सर्वविशेषाणा तदितराणा जीवाजीवादिद्रव्याणामदर्शनात् ।। द्रव्यत्वादिनावान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिका-

मरलम्बमान परापरसग्रह' धर्माधर्माकाशपुद्गलजीव-
द्रव्याणामैक्य द्रव्यत्वादिभेदादित्यादिद्रव्यत्वादिस्म्
प्रतिजानानस्तद्विशेषान् निन्हुवानस्तदाभास यथा
द्रव्यमव तत्त तत्त पर्यायाणामग्रहणाद्विपर्यास इति सग्रह ॥

अथ—सत्ता अद्वैत को मानने वाले, पुन व्यान्तर भेद को न माने वाले। "एक आत्मा द्वितियो नास्ति" ये सब विशेष भावा को अस्वीकार करते हुवे वस्तु को केवल एकरूप मानने वाले अद्वैत वादी वेदान्त और सांख्यदर्शन पर सग्रहा भास है। क्योंकि वे वस्तु प्रत्यक्ष रूप म भेदान्तर होने पर उसे स्वीकार नहीं करते। इस लिये वे सग्रहाभास हैं। जैन दर्शन विशेष सहित सामान्य ग्राहा है।

"द्रव्यत्वादिनावान्तर सामान्यानि इत्यादि" द्रव्यत्वादि=जीव, अजीव आदि अवान्तर सामान्य को मानता है। तथापि जीव प्रतिवार का विशेष भेद भव्य, अभव्य, सम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी, नर, नारकादि अवान्तर भेदों को "गजनिमीलाका" उपमत पने नहीं गवेषता उस अपर सग्रह नया भास कहते हैं।

॥ व्यवहार नय स्वरूप ॥

सग्रहेण च गोचरीकृतानामर्थाना विधिपूर्वकमवहरण
येनाभिसन्धिना क्रियत स व्यवहार यथा यद् सत् तत्
द्रव्य पर्यायश्चेत्यादि ॥

अर्थ—व्यवहार नय का स्वरूप=संग्रह नय से ग्रहण की हुई वस्तु व सत्व आदि धर्मों को गुण आदि से विवेचना कर, भिन्न भिन्न रूप से गवेषणा करे-तथा पदार्थ की गुण प्रवृत्ति को मुख्यपने माने, उस व्यवहार नय कहते हैं। जैसे— जीव और पुद्गलादि पयाय का क्रमभावी, सहभावी दो भेद हैं। तथा जीव के सिद्ध और संसारी ये भेद हैं। और पुद्गल व परमाणु, स्कंध दो भेद से भिन्नता माने, तथा क्रम भावी पयाय के दो भेद- १ क्रियारूप, २ अक्रियारूप इत्यादि विवेचन रूप सामर्थ आदि गुण भेद =विभाग को व्यवहार नय कहते हैं।

॥ व्यवहार नयाभास ॥

य पुनरपरमार्थिकम् द्रव्यपर्याय प्रविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभास चार्वाक् दर्शनमिति व्यवहार दुर्नय ॥

अर्थ— बिना परमार्थ के द्रव्य, पयाय का विभाग करे उस व्यवहार नयाभास कहते हैं। कल्पना मात्र से भेद या विवेचन करने वाले चार्वाक आदि दर्शन व्यवहार दुर्नय कहलाता है। जीव जीवत्व रूप से सप्रमाण अस्ति रूप होते हुए भी, जीव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होने से, चार्वाक उसे नहीं मानते। और पांच भूतादि वस्तु नहीं है, केवल स्वप्न मात्र है, ऐसी कल्पना कर के जो जीवों को उन्मार्ग में प्रेरित करते हैं। यह व्यवहार दुर्नय है ॥

॥ ऋजु सूत्र नय स्वरुप ॥

रिजुवर्तमानक्षणस्थायि पर्याय मात्र प्राधान्यात सूत्र-

यति अभिप्राय रिजुसूत्र ज्ञानोपयुक्त ज्ञानी, दर्शनोप युक्त दर्शनी, कषायोपयुक्त, कषायी, समतोपयुक्त सामायिकी ॥

अर्थ— 'ऋजुसूत्र नय'। ऋजु = सरलपने अतीत अनागत की गवेषणा नहीं करता हुआ- वर्तमान समय वर्ती पदार्थ के पर्याय मात्र को प्रधान रूप से माने उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं। जैसे — ज्ञानोपयोगी सहित को ज्ञानी, दर्शनोपयोग सहित को दर्शनी, कषाय उपयोग सहित को कषायी, समता उपयोग वाले को सामायिकी यह ऋजुसूत्र का मन्तव्य है।

प्रश्न—इस शब्दार्थ से ऋजुसूत्र और शब्द नय एक ही प्रतीत होता है ?

उत्तर—विशेषावश्यक सूत्र में कहा है— "कारण याता ऋजुसूत्र" ज्ञान कारण रूप में प्रवर्तमान होता हुआ, ऋजुसूत्र नय ग्राही है और वही ज्ञायकता = जानना रूप कार्य में प्रवर्तमान होने से शब्द नय ग्राही है।

॥ ऋजुसूत्र नया भास ॥

वर्तमानापलापी तदाभास यथा तथागतमत इति ।

अर्थ— वर्तमान काल अपलापी को ऋजुसूत्र नया भास कहते हैं। जैसे— अस्ति भाव को- नास्ति भाव कहे अजीव को जीव कहे, इत्यादि।

यथ गत = बौद्ध दर्शन का मन्तव्य है। वे जीव की पर्याय पलटने पर जीव द्रव्य का सर्वथा विनाश मानते हैं। जीव सदा सर्वत्र अस्तिरूप है इसलिये बौद्ध दर्शन ऋजुसूत्र नया भास है।

॥ शब्द नय स्वरुप ॥

एक पर्याय प्राग भावेन तिरोभाविपर्यायग्राहक शब्द नय, कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेद प्रतिपद्यमान शब्द, जलाहरणादि क्रियासामर्थ एव घट, न मृत्पिंडादौ 'तत्रार्थवृत्तौ' शब्दवशादर्थप्रतिपत्ति तत् कार्यधर्मे वर्तमान वस्तु तथा मन्यान शब्दनय। शब्दानुरूप अर्थपरिणत द्रव्यमिच्छति त्रिकालत्रिलिंगत्रिवचन प्रत्ययप्रकृतिभि समन्वितमर्थमिच्छति।

अर्थ— शब्द नय वस्तु की एक पर्याय को प्रकट रूप देख कर अन्य वाच्य शब्द पर्याय जो तिरोभावी (अप्रकट) पने है-उन पर्यायों को ग्रहण कर, अथवा त्रिकाल, त्रिलिंग, वचन भेद से शब्द का भेदपना मान और वैसा अर्थ कर। या जलाहरणादि सामर्थ को घट कहे, तथा कुम्भादि के चिह्न — पर्याय सम्पूर्ण प्रकट न होने पर भी उसे नाम सहित बुलावे = सम्बोध। अर्थात् कार्य की सामर्थता को ग्रह कर वस्तु मानें। परन्तु मिट्टी के पिंड को घट न माने, उसे शब्द नय कहते हैं। और संग्रह तथा नैगम नय वाला कहता है यह सत्ता—योग्यता अंश ग्राहक है। तत्वार्थ की टीका में कहा है- कि शब्द उच्चारण रूप अर्थ जिस

वस्तु में धर्म प्रयत्न रूप से दिखाई दे, उसी को वस्तु माने। अतः शब्दानुयायी अर्थ प्राप्त हो उसी वस्तु को वस्तु रूप कहे। काल,लिंगादि भेद से अर्थ का भेद होता है, उस भेद धर्म से वस्तु को मानें। उसे शब्द नय कहते हैं।

॥ शब्द नयाभास ॥

तद्भेदे तस्य तमेव सामर्थमाणस्तदाभास

अर्थ— वस्तु के शब्दानुयायी अर्थ परिणति में विपरित समर्थन करे उसे शब्द नयाभास कहते हैं।

॥ समभिरुढ नय स्वरूप ॥

एकार्थावलम्बि पर्यायशब्देषु निर्युक्ति भेदेन भिन्न मर्थं समभिरोहन् समभिरूढ । यथा इन्द्रनादिन्द्रः,-शकनाच्छक्रः पुरदारणात् पुरन्दर इत्यादिषु ।

अर्थ— 'समभिरुढ नय'। एक पदार्थ को ग्रहण कर उसके पर्याय वाची जितने नाम होते हैं, उतने ही पर्याय भेद होते हैं। उतने ही निर्युक्ति व्युत्पत्ति, और अर्थ भेद होते हैं। उस भिन्नता का सम्यक प्रकार से आरोह करे। अर्थात् सम्पूर्ण अर्थ सहित हो उसे समभिरुढ नय कहते हैं। जैसे— इन्द्, धातु परम ऐश्वर्य अर्थ में है, उसी परम ऐश्वर्य वाले को इन्द्र कहे, तथा शक्न = नवीन = शक्ति युक्त को शक्र कहे, पुर = दैत्य,दर = विदारे उसे पुरन्दर कहे। शचि = इन्द्राणी, पति

= स्वामी उस शचिपति कहे। यह नय धर्म = ऋद्धि इन्द्र में है। इस लोक का स्वामी हो उसे इन्द्र इस नाम से बुलाय = मन्धोरे परन्तु दूसरे पर्याय नामादि इन्द्र है, उस इन्द्र न माने। इतिसमभिरूढ नय ॥

॥ समभिरूढ नयाभास ॥

यथा पर्यायध्वनिनामाभिधेय नानात्वमेव कक्षीकुर्वाण स्तदाभास यथा इन्द्र शक्र पुरन्दर इत्यादि भिन्नाभिधेय ॥

अथ— नानात्व रूप म कर हुए वस्तु पर्याय, जैसे— इन्द्र, शक्र पुरन्दर आदि वस्तु पर्याय को रुयाथि माने, उसको समभिरूढ नयाभास कहते हैं।

॥ एवंभूत नयस्वरुप ॥

एव भिन्न शब्द वाच्यत्वाच्छब्दाना स्वप्रवृत्तिनिमित्त भूतक्रिया विशिष्टमर्थ वाच्यत्वनाभ्युपगच्छन्नेवंभूत । यथा इन्दनमनुभवन्निन्द्र, शकनाच्छक्र, ।

अथ— 'एवंभूत नय'। शब्द नय की प्रवृत्ति निमित्त क्रिया विशिष्ट अर्थ युक्त अर्थात् वस्तु वाच्य धर्म से प्राप्त हो, कारण कार्य धर्म सहित हो, उसे एवंभूत नय कहते हैं। जैसे— ऐश्वर्य सहित को इन्द्र, सम्पूर्ण सिंहासन पर बैठा हो तब शक्र, शचि = इन्द्राणी के साथ बैठा हो तब शचिपति अर्थात् जितने शब्द हैं- वे सब पर्यायार्थ पूर्ण रूप स

प्राप्त हो। उसी नाम से सम्बोधे जो पर्याय दृष्टि गोचर न हो, उसको उसको उस नाम से न बुलावें। जब तक एक पर्याय भी न्यून है- वह वस्तु समभिरूढ़ नय ग्राह्य है। एव भूत नय ग्राह्य तभी हो सकती है। जब वह परिपूर्ण अवस्था प्राप्त हो। इति एव भूत नय॥

॥ एवं भूत नयाभास ॥

शब्दवाच्यतया प्रत्यक्षस्तदाभास तथा विशिष्ट चेष्टा शुन्य घटाख्यवस्तुन घटशब्दवाच्य घटशब्दद्रव्यवृत्ति भूत धशून्यत्वात् पटवदित्यादि॥

अर्थ— केवल पदार्थ के नाम भेद से ही पदार्थ की भिन्नता माने उस एव भूत नया भास कहते हैं। नाम भेद से तो वस्तु भेद है ही। जैसे— हाथी, घोड़ा, हरिन इत्यादि भिन्न है। इसी प्रकार इद्र, पुरदर, शक्रेन्द्र भिन्न भिन्न माने इसे एव भूत नया भास = दुनय कहते हैं।

नय का विशुद्धता

अत्र आद्य नय चतुष्टमविशुद्ध पदार्थ प्ररुपणाप्रवणत्वात, अर्थ नया नामद्रव्यत्वसामान्यरूपानया। शब्दा दयो विशुद्ध नया, शब्दार्थलम्बार्थ मुख्यत्वादाद्यस्ते तत्वभेदद्वारेण वचनमिच्छति शब्दनयस्तावत् समान लिंगानामसमानवचनाना शब्दाना इन्द्र शक्रपुरदरादीना

वाच्य भावार्थमेवाभिन्नमभ्युपैति न जातुचिद् भिन्न वचन वा शब्द स्त्री दारा तथा आपो जलमिति समभिरूढ वस्तु प्रयर्ग शब्दनिवेशादिद्र शक्रादिना पर्याय शब्दत्व न प्रतिजानीते अत्यर्तामिन्न प्रवृत्ति निमित्तत्वादिभिन्नर्थ त्वमेवानुमन्यते, घट शब्रादिशब्दानामिवेति प्वभूत पुनयथा सद्भावस्तु वचनगोचर आपृच्छीति चेष्टाविशिष्ट एवार्थो घटशब्दवाच्य चित्रलेख्यतापयोगपरिणतश्चचित्रकार । चेष्टारहित-तस्तिष्ठन् घटो न घट, तच्छब्दार्थरहितत्वात् दृष्टान्द नान्यथर नास्मि ज्ञान शयनो वा चित्रकाराभिधानाभिधेयश्चित्रज्ञानोपयोगपरिणति शून्यत्वदगोपाल वदनमभेदार्थवाचिनो नैकशब्दनाशार्थावलम्बिनश्च शब्दप्रधानार्थोपमर्जनाच्छब्दनया इति तत्वार्थवृत्तौ ॥

॥ पुन, अनुयोगद्वारेषु ॥

नैगम सामान्यविशेषोभयग्राहक, व्यवहार विशेषग्राहक द्रव्यार्थावलम्बि ऋजुसूत्रविशेषग्राहक एव एते चत्वारो द्रव्यनय, शब्दादय पर्यायार्थिकविशेषावलम्बि भावनयाश्चेति शब्दादयो नामस्थापना

द्रव्य विशेषानरस्तु तयाजानन्ति परस्परसापेक्षा
सम्यग्दर्शनिप्रतिनय भेदाना शत तन सप्तमत
नयनामिति अनुयोगद्वारोक्तत्वात् ।

अर्थ—इन सात नया में प्रथम के चार नय अविशुद्ध है। वे वस्तु धर्म को सामान्य पने ग्रहण करते है। इन चार नया को कहीं कहीं अर्थ नय भी कहा है—अर्थ शब्द है वह द्रव्य अर्थ का वाची है। अन्त के शब्दादि तीन नय विशुद्ध हैं। कारण शब्द व अर्थ की इन में मुख्यता है। प्रथम के (नैगम) नय वाच्य अर्थ ग्राह्य है, और शब्दादि नय लिंगादि अभेद से वचन अभेद्य है। भिन्न वचन का भिन्नार्थ ग्राह्य है। और समभिरूढ़ नया भिन्न शब्द है। उस वस्तु के पर्याय को नहा मानता तथा एवंभूत नय भिन्न गोचर पर्याय को भिन्न मानता है। घट पने का चेष्टा युक्त को घट माने, परन्तु कोने में रखे हुवे घट को घट नहीं मानता, जो चित्राम करता हो, उसी उपयोग में वर्तता हो, उसी को चित्रकार कहे, यदि वह सोता हो, खाता हो, बैठा हो, उस समय उस चित्रकार नहीं कहता। क्योंकि उस समय वह उपयोग रहित है। यह शब्द और अर्थ का भेद पना मानता है। अर्थ की शून्यता वाले शब्द को प्रमाण नहीं करता। शब्द प्रधान अर्थ जिस वस्तु में गौण पन है, वह वस्तु शब्दादि तीन नय को मान्य है। उपरोक्त व्याख्या तत्वार्थ सूत्र की टीका से कहा है।

पुन अनुयोगद्वार सूत्र से इन सात नया में प्रथम की नैगम नय सामान्य विशेष दोनों को मानने वाला है। संग्रह नय सामान्य का

मानती है। व्यवहार नय विशेष को मानती है और द्रव्य ग्राही है। ऋजुसूत्र नय विशेष ग्राही है। ये चारों द्रव्य नय कहे जाते हैं। पद र शब्दादि तीन नय पर्यायार्थिक विशेषग्राही भाव नय हैं। शब्दादि नय नाम, स्थापना, द्रव्य इन तीन निक्षेप को अवस्तु मानते हैं।

निक्षेप सदनयाण अनुयू

(अनुयोगद्वार सूत्र)

इससे नयों को परस्पर अपेक्षा सहित ग्रहण करे उसे सम्यक्त्वी समझना चाहिये। इस निरपेक्ष भाव में ग्रहण करने वाले को मिथ्यात्वी कहते हैं। पुन एकैक नय के सौ सौ भेद होते हैं। इस प्रकार सात भेद होते हैं। यह अधिकार अनुयोग सूत्र द्वार से कहा है।

॥ नय का विषय परिमाण ॥

पूर्व पूर्व नय प्रचुरगोचरा परास्तु परिमित विषया: सन्मात्रगोचरात् संग्रहत् नैगमो भावाभाव भूमिन्नात् भूरिविषय, वर्तमान विषयाद् ऋजूसूत्रात् व्यवहार त्रिकाल विषय वाद् बहुविषय कालादि भेदेन भिन्नार्थप्रदर्शनात् भिन्न ऋजूसूत्र विपरीततस्मान्महार्थ। प्रतिप्रर्यायमशब्दमर्थ भेदमभीप्सित समभिरूढा

विषयी है। ऋजुसूत्र नय वर्तमान विशेष धर्मग्राही है। इसलिये व्यवहार से ऋजुसूत्र का विषय क्षेत्र अल्प है। शब्द नय काल, वचन, लिंग से विवरण करता हुआ अर्थग्राही है। और ऋजुसूत्र नय काल लिंग से भेद पना नहीं करता इस वास्ते अधिक विषयी है। तथा शब्द नय अल्प विषयी है, क्योंकि अर्थ ग्राही होने से। इस का विषय न्यून है। और शब्द नय से समभिरूढ नय अल्प विषयी है। क्योंकि समभिरूढ नय व्यक्त धर्म की वाचक पर्याय का ग्राहक है। तथा शब्द नय सब पर्यायों में किसी एक पर्याय का ग्राहक होने से अधिक विषयी है। और समभिरूढ इससे परिमित विषयी है। समभिरूढ से एवं भूत नय का विषय क्षेत्र कमती एवं भूत नय प्रति समयक्रिया के भेद से भिन्न अर्थ मानता = करता है। समभिरूढ नय पर्याय के सब बात की गवेषणा करता है, इस से इसका विषय क्षेत्र अधिक है। तथा एवं भूत नय समय मात्र ग्राही होने से समभिरूढ नय से इसका विषय परिमित = न्यून है।

नय के जो वचन हैं वे अपनी नय के स्वरूप से अस्ति है और पर नय के स्वरूप की अपेक्षा से नास्ति है। इस प्रकार सब नयों की विधि प्रतिषेध करने से सप्तभंगी उत्पन्न होता है। परन्तु नय की सप्तभंगी विकलादेशी ही होती है। अतः उन सात में से पिछले चार भंग होते हैं। सकलादेशी सप्त भंगी प्रमाणरूप है, इस लिये नय की सप्तभंगी नहीं होती। "तथा च"

उक्त = विकलादेशस्वभावा हि नय सप्त भ गी वस्त्वंश-

मात्रपरूपकत्वात् सकलादेशस्वभावास्तु प्रमाणमप्रभ गी सम्पूर्णवस्तुस्वरूप प्ररूपणात् ॥

(रत्नाकरावतारिकाया)

॥ इति नयाधिकार ॥

नैगम=गुणपर्याय शरीर सहित को जीव घ.ोंगि आदि सब द्रव्य जीव में माने।

संग्रह=असंख्यात प्रदेशी को जीव-एकाकाश प्रदेश छोड़ सब जीव में माना।

व्यवहार=कषाय विषय या पुण्यादि क्रिया करे वह जीव-इसमें करण इन्द्रीय, मन, लेश्या ग्राही जीव माना।

ऋजुसूत्र=उपयोग सहित-चार ज्ञान, अज्ञान मिश्रित्-शेष पुद्गलादि द्रव्य छोड़ दिये।

शब्द=भाव-जीव नाम निक्षेप विषय।

समभिरूढ=ज्ञानादि गुण युक्त जीव साधकावस्था।

एवंभूत=अनन्त ज्ञा० द० चा० शुद्धसत्ता (सिद्धावस्था)

॥ प्रमाणमाह ॥

सकलनयग्राहक प्रमाण, प्रमाता आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाण चैतन्यस्वरूपपरिणामी कर्ता साक्षाद् भोक्ता [illegible] भिन्नत्वनर प चकारणसामग्रीत सम्यग् [illegible] सावयत सिद्धि । स्वपरव्यवसायिज्ञान [illegible]

परोक्ष भेदात्परस्ट प्रत्यक्ष परोक्षमन्यत् अथवा आत्मनोपयोगत इन्द्रिय द्वारा प्रवर्तते न यज्ज्ञान तत्प्रत्यक्ष अवधिमनपर्यायौ देशप्रत्यक्षौ, तच्चतुर्विध अनुमानोपमानागमार्थापत्ति भेदात्, लिंगपरामर्शोऽनुमान लिंग चाविनाभूतवस्तुक निश्चत ज्ञेय यथा गिरिगुह्वरादौ व्योमावलम्बिधूम्रलेखा दृष्ट्वा अनुमान करोति, पर्वतो वह्निमान धूमवत्वात् यत्र धूमस्तत्राग्नि यथा महानस, एव प चानयशुद्ध अनुमान यथार्थ ज्ञानकारण मदृश्यावलम्बनेना ज्ञातवस्तुना यज्ज्ञाने उपमानज्ञान, यथा गौस्तथा गवय गोमा दृश्येन अदृष्टगवयाकारज्ञान उपमानज्ञान, यथार्थोपदेष्टापुरुष आप्त स उत्कृष्टतो वीतराग सर्वज्ञ एव। आप्तोक्त वाक्य आगम, रागद्वेषाज्ञानभयादिदोषरहितत्वात् अर्हत वाक्य आगम तदनुयायि पूर्वापराविरुद्ध मिथ्यत्वासयमकषाय भ्रान्ति रहितम् स्याद्वादोपेत वाक्य अन्यथा शिष्टानामपि वाक्य आगम। लिंग ग्रहणात् ज्ञेयज्ञानोपकारक अर्थापत्तिप्रमाण यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भु क्ते तदा अथाद्रमौ भुक्ते एव, इत्यादि प्रमाणपरिपाटी गृहीतवास्तवरूप सम्यक्ज्ञानी उच्यते ॥

अर्थ—"प्रमाण का स्वरूप" सब नया के स्वरूप का ग्राहक, समस्त धर्मों का ज्ञायक हो उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण यह माप

विशेष का नाम है, जो ज्ञान जगत के सब प्रमेय = पदार्थ के मान विशेष प्रमाण को प्रमाणित करने वाला ज्ञान है। और आत्मा प्रमाता, अर्थात् प्रमाण का कर्ता है। वह प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध है। पुन चैतन्यस्वरूप परिणामी है और सजन धर्म से उत्पाद व्ययपने परिणमन होता है। इस लिये परिणामिक है, कर्ता है, भोक्ता है, जो कर्ता होता है वही भोक्ता होता है। बिना भोक्ता के सुख नहीं कहलाता। यह चैतन्य ससारपने कर्म्ह परिणामी है। प्रत्येक शरीर भिन्नते भिन्न जीव है। य चार प्रकार का सामग्री पाकर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र की साधना से सम्पूर्ण अविनाशी, निर्मल, निष्कलक, असहाय, अप्रयास, स्वगुण, निरावर्ण, अक्षय, अव्याबाध, सुखमयी, सिद्धता, निरञ्जनता, उपार्जित करता है। यह साधन मार्ग है।

स्व पर व्यवसायी अर्थात् स्व आत्मा से भिन्न पर अनन्त जीव और धर्मास्तिकायादि 'पर' का व्यवसायी = व्यवच्छेदक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। इसके मुख्य दो भेद हैं, (१) प्रत्यक्ष, (२) परोक्ष। स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इस से इतर अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। अथवा आत्मा के उपयोग से, बिना इन्द्रियों की प्रवृत्ति के ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। जिस के दो भेद हैं। (१) देश प्रत्यक्ष, (२) सर्व प्रत्यक्ष। अवधि तथा मन पर्यव ज्ञान देश प्रत्यक्ष है। क्योंकि अवधिज्ञान एक पुद्गल परमाणु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से कितनेक पर्यायों को देखता है और मनपर्यव ज्ञान मन के पर्यायों को प्रत्यक्ष देखता है। परन्तु दूसरे द्रव्यों को नहीं देखता। इसलिये दोनों ज्ञान देश प्रत्यक्ष हैं।

ने वस्तु के अंश को जानते हैं। किन्तु सम्पूर्ण रूप से नहीं जानते और केवल ज्ञान जीव, रूपी, अरूपी, लोकालोक और तीनों काल के भावों को प्रत्यक्ष रूप से जानता है। इसलिये यह सर्व प्रत्यक्ष है।

मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान ये दोनों अस्पष्ट हैं। इसलिये इन्हें परोक्ष कहा है। परोक्षप्रमाण के चार भेद हैं—(१) अनुमान प्रमाण, (२) उपमानप्रमाण, (३) अर्थापत्तिप्रमाण, (४) आगमप्रमाण। चिन्ह देख कर जिस पदार्थ का अवबोध हो, उसे लिंग=आकार कहते हैं। उस के अवबोध से जो ज्ञान हो उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे-पर्वत के शिखर पर आकाशावलम्बी धूम्ररेखा देखने से अनुमान होता है कि यहां अग्नि है। कारण धूआ होता है वहां अग्नि अवश्य होती है। आकाशावलम्बी धूम्ररेखा बिना अग्नि के नहीं हो सकती। इस को शुद्ध अनुमान प्रमाण कहते हैं। यह प्रमाण मति, श्रुति, ज्ञान का कारण है। जो यथार्थ ज्ञान हो उसको प्रमाण कहते हैं। अयथार्थ ज्ञान प्रमाण नहीं है।

सदृशतापने=एक सरीखे रूप को देख कर बिना जानी वस्तु का बोध हो उसे उपमा प्रमाण कहते हैं। जैसे गो=गाय जैसा गवय=रोझ यहां बैल से गवय (यह गाय सरीखा जंगली जानवर है) की पहिचान करवाई, यह उपमा प्रमाण है॥

यथार्थ भावों के उपदेशक को आप्त पुरुष कहते हैं। उत्कृष्ट आप्त वीतराग रागद्वेष रहित सर्वज्ञ केवली है। उनके कहे हुवे वचनों को आगम कहते हैं। जो राग, द्वेष या अज्ञान के दोष से आगे पीछे या

`उनाधिक वचन कहा जाय वह आगम नहीं है किन्तु अरिहंतों के वचन आगम प्रमाण हैं। पुन इन के अनुयायी जो मिथ्यात्व, असयम, कषाय से रहित पूर्वापर अविरोध, भ्रातिविना, स्याद्वाद युक्त, साधक, बाधक, हेय, उपादेय इत्यादि विवेचन सहित कहा हुआ वही आगम प्रमाण है। "यथोक्त"

सुत गणहररइय, तहव इत्तेयबुद्ध रइय च।
सुअकेवलीणा रइय अभिन्न दशपुव्विणा रइया ॥१॥

इत्यादि सदुपयोगी भवभिरू जगत जीवा के उपकारी श्रुत आमनाय को धारण करने वाले, और श्रुत के अनुसार कहे, उनका वचन भी प्रमाण रूप है।

किसी फलरूप लिंग=फलितार्थ को ग्रहण कर अनजान पदार्थ का निरधार करना उन अर्थापत्ति प्रमाण कहते है। जैसे-देवदत्त का शरीर पुष्ट है, वह दिन को नहीं खाता तब अर्थापत्ति मे ज्ञात होता है, वह रात को खाता होगा। इसी से शरीर पुष्ट है। इने अर्थापत्ति प्रमाण जाति से अनुमान प्रमाण का अंश है, इसी लिये अनुयोगद्वार सूत्र में इस को प्रथक नहीं कहा।

अन्य दर्शन वाले प्रमाण मानते हैं, वह असत्य है।। जैसे— छह इन्द्रियों सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ ज्ञान उसे नैयायिक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। और पारब्रह्म को इन्द्रिय रहित मानते हैं, तथा ज्ञानानन्दमयी मानते हैं। तब इन्द्रिय रहित ज्ञान है वह अप्रमाण होता है। इत्यादि

अनेक युक्ति है इस वास्ते वह (नैयायिक का प्रमाण) अप्रमाण होता है। चार्वाक मत वाले केवल एक इ द्रिय प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते है । इस प्रकार अन्य दर्शनियों के विकल्प को हटा के सर्वनय, निक्षेप, सप्त भंगा, स्याद्वाद युक्त ज्ञान, अर्थात वस्तु का सम्यग् ज्ञान प्राप्त हो, उसे ज्ञान ज्ञानी कहते हैं ॥ इति ज्ञान स्वरूप ॥

॥ रत्न त्रयी स्वरूप ॥

तथार्थ श्रद्धान सम्यग् दर्शन । यथार्थ हेयो -पादेयपरिज्ञायुक्तज्ञान सम्यगज्ञान । स्वरूपरमणपर- परित्यागरूप चरित्र । एतद्रत्नत्रयीरूपमोक्षमार्गसाधन- त्साध्यसिद्धि इत्यनेनात्मन स्वीय स्वरूप सम्यग् ज्ञान ज्ञानप्रकर्षएवात्मलाभ ज्ञानदर्शनोपयोग लक्षण एवा- त्मा छद्मस्थानाम् च प्रथम दर्शनोपयोग केव- लीना प्रथम ज्ञानोपयोग पश्चाद्दर्शनोपयोग सह- कारी कर्तत्व प्रयोगात् उपयोगसहकारेणैव शेषगु- णाना प्रवृत्त्युपगमात् इत्येव स्व तत्वज्ञानकरणे स्वरु- पोपदान तथा स्वरुपरमणध्यानैकत्वेनैवसिद्धि ॥

अर्थ— श्री वीतराग के आगम मे वस्तु स्वरुप प्राप्त कर उस में हेयो- पादेय का निर्धार करना उस सम्यग् दर्शन कहते हैं । 'यथा'

तत्वार्थश्रद्धान सम्यगदर्शन

(तत्वार्थ सूत्र अ० १ सूत्र २)

जीवाजीवाय बंधो, पुन पावासवोतहा।
सवरो निज्झरा मुक्खो, सति एविहियानव ।।१।।

(उत्तराध्ययन सूत्र)

इत्यादि दशरुचि मे सत तत्व को जान कर 'तत्व' = जीवादि पदार्थ की श्रद्धा = निर्धार को सम्यग दर्शन कहते हैं। यह'सम्यगद' धर्म का मूल है। हेय = छोडने योग्य,उपादेय = ग्रहण करने योग्य,ऐसी परिक्षा सहित ज्ञान को सम्यक्त्व कहते हैं। जिस में हयोपादेय, सकोच अकरण = सकोचविकाश करन की बुद्धि नहीं है, परन्तु उपादेय के उपयोग से ऐसे चितवना हो कि अब स्व करुँगा ? इसके बिना कैसे होगा ? ऐसी बुद्धि नहीं है, उसे सवेदन ज्ञान कहते हैं। इस से संवर हो ऐसा निश्चय नहीं है। तथा स्वरूप रमण, राग द्वेष परनिभाव आदि के परित्याग को चारित्र कहते हैं । इस रत्नत्रयी रूप परिणमन परिणाम को मोक्ष मार्ग कहते हैं। इस के साधन से साध्य रुप परम अव्याबाध पद की सिद्धि प्राप्त होती है। आत्मा का स्वरूप वही यथात ज्ञान है।, और चेतना लक्षण है, वही न।नत्वपना है। तथा ज्ञान का प्रकर्ष बहूल्य = उत्कृष्टपना वा आत्म अवबोध = आत्म लाभ है। ज्ञान दर्शन उपयोग लक्षण आत्मा है। छद्मस्त को पहले दर्शन उपयोग होता है, और पाछे ज्ञानोपयोग होता है। केवली को पहले ज्ञानोपयोग तत पश्चात दर्शन उपयोग

होता है। नवीन गुण 'केवल ज्ञान' करने वाले सब जीवों को पहले समय ज्ञानोपयोग 'सहकारो कर्तृत्व प्रयोगात्' इसी की सहायता से दर्शन उपयोग है तथा 'उपयोग सहकारेणैव, उपयोग की सहायता से ही शेष गुणों का प्रवृति का ज्ञान होता है। अत सहकार याने सहायक यहां ज्ञानोपयोग है। ज्ञान विशेष धर्म का नायक है। और विशेष धर्म है, वह सामान्य के आधारवर्ती है। इसलिये विशेष है वह सामान्य सहित है। विशेष के साथ सामान्य का ग्रहण हो गया, और सामान्य को भी विशेष सहित जाने यह सर्वज्ञ, सर्वदर्शीपना समझना। इस प्रकार स्व तत्व का ज्ञान प्राप्त करने से स्व धर्म की प्राप्ती होती है। स्वस्वरूप की प्राप्ति से स्व स्वरूप रमणता होती है। स्वरूप रमणता से ध्यान की एकत्वता होती है, इसमें निश्चयज्ञान, निश्चयचारित्र, निश्चयतप पना प्राप्त होता है। पुन सिद्धि = मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। यही तात्पर्य है॥

॥ आवर्ज्जि करण स्वरुप ॥

तत्र प्रथमतः ग्रंथिभेद कृत्वा शुद्धश्रद्धान ज्ञानी द्वादश कषायोपशम, स्वरुपैकत्वध्यानपरिणतेन क्षपकश्रेणी परिपाटी कृत घातिकर्मक्षय, अवाप्तकेवलज्ञानदर्शन' योगनिरोधात् अयोगीभावसमापन्न, अघातिकर्मक्षयानन्तर समय एकास्पर्शवद्गत्या एकान्तिकात्यन्तिकानाबाधनिरूपाधिनिरूप चरितानयोसाविनाशि सम्पूर्णात्मशक्तिप्रगभावलक्षणम् सुखामनुभवन् सिध्यति

मायनतंकाल तिष्टति परमात्मा इति। एतत् कार्य मर्व भव्याना ॥

अथ—यह जाव प्रथम मयिभद करक सुद्धश्रद्धावान, शुद्धज्ञानी पहिल तान चौकडी ((१२ कषाय) चयोपशम कर चरित्र गुण स्वरूप प्रकट ध्यान में निमग्न होता, चपकश्रेणि पाकर अनुक्रम से घाति कर्म चय कर केवल ज्ञान, केवल दशा को पाकर सयोगी केवली गुणस्थानक पर, जघन्य अन्तर मुहूर्त उत्कृष्ट आठ वर्ष न्यून पूर्व क्रोड वर्ष पर्यन्त स्थिर रहता हुआ, कोई जीव समुद्घात करता है, कोई नहीं भी करता परन्तु आवर्जिकरण सब केवली करते हैं। उसका स्वरूप बताते हैं।

आत्म प्रदेशों में रहे हुवे कर्म दल पहले चलायमान होते हैं। पीछे उदीरणा होती है। पाछे भोग कर निर्जरा करते हैं। केवली का तेरहवें गुण स्थानक में जब अल्पायु रहती है, उस समय आवर्जिकरण करते हैं। जैन-आत्म प्रदेशों में रहे हुवे कर्म दल की प्रति समय असख्यातगुना निर्जरा करना है, उतने ही दल आत्म वीर्य से चलायमान करे, इस वीर्य प्रवर्तन को आवर्जिकरण कहते हैं। इस प्रकार प्रति समय असख्यात् गुना निर्जरा करता हुआ शेष तीन कर्म दल अधिक रह जाय तो समुद्घात करे अन्यथा समुद्घात नहीं करते, किन्तु आवर्जिकरण सब केवली करते हैं। तत् पश्चात् तेरहवें गुणस्थानक के अन्त समय योग निरोध कर के अयोगी, अनाहारी, अप्रकम्प, घनीकृत आत्म प्रदेशी होकर पाच लघु अक्षर (अ इ उ ऋ लृ) कालमान अयोगी नामक चउदह-(१४) में गुणस्थानक पर ठहर कर, शेष सत्ता गत ... न

है, उसे त्रिचुरु समय में खपा = नष्ट कर समस्त पुद्गल संग रहित हो। तत् समय आकाश प्रदेश की सम श्रेणी अर्थात् अन्य = दूसरे प्रदेश की श्रेणी को अस्पर्श करता हुआ लोकान्त = लोक के अन्तिम भाग में सिद्ध कृतकृत्य सम्पूर्णगुण, प्रागभावी, पूर्णपरमात्मा, परमानन्दी, अनन्त केवलज्ञानमयी, अनन्त दर्शनमयी, अरूपी सिद्धावस्था को प्राप्त होता है। "उक्तंच"

कहि पडिहया सिद्धा, कहि सिद्धा पयट्ठिया ।
कहि बोंदि चइत्ताणं, कत्थ गतूण सिज्झइ ॥
अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गो य पइट्ठिया।
इह बोंदि चइत्ताणं, तत्थ गतूण सिज्झइ ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र)

"इत्यादि" वे सिद्ध एकान्तिक, आत्यन्तिक, अनाबाध, निरुपाधि निरुपचरित, अनायास, अविनाशी, सम्पूर्ण आत्म शक्ति प्रकटरूप अनन्त सुख अनुभव कर्ता है। उनके प्रति प्रदेश में अव्याबाध सुख अनन्त हैं। उक्तंच"

सिद्धस्स सुहोरासी, सव्वद्धा पिण्डिय जइ हवज्जा ।
सोणतवग्गो भइयो सव्वागसे न मइज्जा ॥१॥

(उववाई सूत्र)

"इति वचनात्" परमसुख के भोक्ता है। सादि अनन्तकाल पर्यन्त परमात्मपने रहते है और यही कार्य सब भव्य प्राणियों को करने योग

है। इसकी पुष्टि का कारण श्रुताभ्यास है। इसी हेतु यह द्रव्यानुयोग नय स्वरूप को किंचित् कहा। यह ज्ञानदशा जिसगुरु की परम्परा से मैंने प्राप्त किया उन गुरुवरों की परम्परा का यहां स्मरण करता हूँ।

गच्छे श्रीकोटिकाख्ये विशदखरतरे ज्ञानपात्रमहान्त ।
सूरिश्रीजिनचन्द्रा गुरुतरगणभृतशिष्य मुख्या विनीता ।
श्रीमत्पुण्यात्प्रधाना' सुमतिनलनिधिपाठका साधुरगा ।
तच्छिष्या पाठकेन्द्रा श्रुतरसरसिका राजसागरा मुनिन्द्राः ।
तच्चरणाम्बुज सेवालीना श्रीज्ञान धर्मधरा ।
तत्शिष्य पाठकोत्तम दीपचन्द्रा श्रुतारमज्ञा ॥२॥
नयचक्र लेशमेतत्तेषा शिष्येण देवचन्द्रेण ।
स्वपरावबोधनार्थं कृत सदभ्यासवृध्यर्थं ॥३॥
शोधयन्तु सुधिया कृपापरा , शुद्धतत्व रसिकाश्च पठन्तु ।
साधनेन कृतसिद्धि सत्सुखा , परममंगल भावमश्रुते ॥३॥

॥ इति नय चक्र विवरण समाप्त ॥

ग्रन्थ समाप्ति-उपदेशिक दोहे

सुनयबोध विणु भविजने, नहोवे तत्व प्रतीत।
तत्वालंबन ज्ञान विण, न टले भव भ्रम भीत ॥१॥
तत्व ते आतम स्वरूप छे, शुद्ध धर्म पण तेह।
परभावानुगत चेतना, कर्म गेह छे एह ॥२॥
तजि परिपरणति रमणता, भज निज भाव विशुद्ध।
आत्म भाव थी एकता, परमानन्द प्रसिद्ध ॥३॥
स्याद्वाद गुण परिणमन, रमता समता संग।
साधे शुद्धानंदता, निर्विकल्प रस रंग ॥४॥
मोक्ष साधन तणु मूल तं, सम्यग् दर्शन ज्ञान।
वस्तु धर्म अवबोध विणु, तुस खंडन सामान ॥५॥
आत्म बोध विणु जे क्रिया, ते तो बालक चाल।
तत्वार्थनी वृत्ति में, लो जो वचन संभाल ॥६॥
रत्नत्रयी विणु साधना, निष्फल कही सदीव।
लोक विजय अध्ययन में, धारो उत्तम जीव ॥७॥
इंद्रिय विषय आसंसना, करता ने मुनि लिंग।
यूता ते भवी पंकमें, भाखे आचारंग ॥८॥
इम जाणी नाणी सवे, नकरे पुद्गल आस।
शुद्धात्म गुण में रमे, ते पामे सिद्ध विलास ॥९॥
सत्यार्थ नय ज्ञान विणु, न होवे सम्यग् ज्ञान।
सत्य ज्ञान विणु देशना, न कहे जिन भाण ॥१०॥

स्याद्वाद वादी गुरु, वसु रस रसीया शिष्य।
योग मिल्यो तो नीपजे, पूरण सिद्ध जगीस ॥११॥
वक्ता श्रोता योग थी, श्रुत रस अनुभव पीन।
ध्यान धयनी एकता, करता शिव सुख लीन ॥१२॥
इम जाणी शासन रुचि, करजो श्रुत अभ्यास।
पामो चारित्र संपदा, लहसो लील विलास ॥१३॥
दीपचन्द गुरु राज ने, सुपसाये उल्लास।
देवचन्द भवि हित भणी, कीधो ग्रंथ प्रकाश ॥१४॥
गुण ने भण्ये से जे भविक, एह ग्रंथ मन रंग।
ज्ञान क्रिया अभ्यास ना, लहने तत्व तरंग ॥१५॥
द्वादशसार नय चक्र छे, मल्लवादि कृत वृद्ध।
सप्तशति नय वाचना, कीधी तिहां प्रसिद्ध ॥१६॥
अल्पमति ना चित्तमें, नावे ते विस्तार।
मुख्य स्थूल नय भेदनो, भाख्यो अल्प विचार ॥१७॥
खरतर मुनिपति गच्छपति, श्री जिनचन्द्र सूरीस।
तस शीस पाठक प्रवर, पुण्य प्रधान मुनीस ॥१८॥
तसु विनयी पाठक प्रवर, सुमति सागर सुमनाय।
साधुरंग गुण मनिनि, राज सागर उवमाय ॥१९॥
पाठक ज्ञान धर्मगुणी, पाठक श्री दीपचन्द।
तास सीस देवचन्द्र कृत, भणता परमानंद ॥२०॥

॥ अनुवादकीय ग्रन्थ समाप्ति सवैया इक्तीसा ॥

मे—घज्यु वर्षत ध्वनि, धारा अनुपम पुनि ।
घ—न ज्यु गर्जत घोर, हृदय हुलसायो है ॥
रा—ग द्वेष लम नाहीं, मोह का प्रवेस नाहीं ।
ज—गत उद्धार सार, यही मन भायो है ॥
मु—नि वीच इन्द चन्द, सोहत आनन्द कन्द ।
नौ—पाच को निकन्दात्म, भाव प्रगटायो है ॥
त—रन तारन धीर, वीर को नमन करी ।
गुरू के चरन रज, सीस पै चढायो है ॥
ताहि के प्रासाद 'नय-चक्र' अनुवाद कीनो ।
देवच द सूरि कृत, बाल बोध भायो है ॥
तत्व बोध हेतु भूत, सेतु सुन्दर ज्ञान पायो ।
फलवृद्धि कान मेघ हिय हुलसायो है ॥
तत्व क रसिक जेइ, ताते अनुरोध एह ।
गुण ग्राहो होउ जात, उच्च पद पायो है ॥
उत्तम वैसाख मास, अक्षय त्रतीय खास ।
समतागखाम आठ, पाच (१९८५) को बनायो है ॥

❀ मगलमय गिरीराज स्तवन ❀

(राग झलारी)

ऊ ची रे नीची गिरवरीयेरी पाल हो जिनवर जी ।
कई मरूदवी नन्दन वन्दन निज करू हो राज ॥
॥ काई मरू देवी नदन ॥
आये हो जिनन्दजी, पूर्व नवाणु वार हो जिनवरजी ।
कई मिल सुर प्रभु गुगड़ो रचे हो राज कई मिल ॥
सेवे हो जिनदजी, सुरपति होडा होड हो जिनवरजी ।
कई देशना वाणी जोजन गामणी हो राज ॥
कइ देशना० ॥१॥
बैठे हो जिनन्दजी, तिन गढ उपर आप हो जिनवरजी ।
कई कनक रत्नों रा मोह कोंगरा हो राज कई ॥कनक ॥
आई हो जिनन्दजी परपदा मन हुल्लास हो जिनवरजी ॥
कइ वर्षे घन गाणो मघ सुहारणी हो राज ॥
॥ कइ वर्षे घन० ॥२॥
शोभे हो जिनन्दजी, मुख जल हल निम मांण हो जिनवरजी ॥
कइ वाणी सुण जन मन पुलकित हुवे हो राज कई ॥वाणी०॥
उपदेशे हो जिनन्दजी, दो विध धर्म को सार हो जिनवरजी ।

कई सर्व ने देश विरत केई आदरे हो राज ॥
॥ कई सर्व ने० ॥३॥

कई हो जिनजी, ले समकित निजाराम हो जिनवरजी ।
कई भरथ गिरी महिमा पूछे भावस राज ॥कई भरथ०
भावे हो जिनन्दजी, सास्वत गिरी उजमाल हो जिन०॥
कई भरथ सुणी ने मन मा गह गहे रो राज ॥
॥कई भरथ सुणी० ॥४॥

भरथ सिघवी हुई, भेटे तीर्थ राज हो जिनवरजी ।
कई रतन कनक मय बिम्ब स्थापीया हो राज कइ ।
रतन०॥

प्रभु भाव भक्ती सु, पूजे भरथ महाराय हो जिनवरजी ।
कई मंगल मूर्ति, जिन देख मेघ मन हरषियो हो राज ।
कई हर्षे मन मोर मेघ घन गर्जतां हो राज ॥५॥

श्री मेघराज जी सुणोत ने इसी प्रकार कई धार्मिक स्तवना रचनाएं "किंकर" के नाम से की हैं। ये स्तवन अलग पुस्तकाकार शीघ्र ही छापे जाने की संभावना है।

—सम्प

॥ शुभम् भूयात् ॥

कई मर्म ने देख विरत केई आदरे हो राज ॥
॥ कई मर्म ने० ॥३॥
कई हो जिनजी, ले समकित निजाराम हो जिनवरजी ।
कइ भरथ गिरी महिमा पूछे मावद् राज ॥कई भरथ०॥
भावे हो जिनवरजी, साम्प्रत गिरी उत्तमाल हो जिन०॥
कई भरथ गुणी ने मन मा गह गहे रो राज ॥
॥कई भरथ गुणी० ॥४॥
भरथ तिपवी हुई, भेटे तीर्थ राज हो जिनवरजी ।
कई रतन कनक मय बिम्ब स्थापीया हो राज कई ।
रतन०॥
प्रभु भाव भक्ती सु, पूजे भरथ महाराय हो जिनवरजी ।
कइ मगल मूर्ति, जिन देख मेघ मन हर्षियो हो राज ।
कई हर्ष मन मोर मेघ घन गर्जता हो राज ॥५॥

श्री मेघराज जी मुणोत ने इसी प्रकार कई धार्मिक स्तवनों की रचनाए "किंकर" के नाम से की हैं। ये स्तवन अलग पुस्तकाकार में शीघ्र ही छापे जाने की संभावना है।

—सम्पादक

॥ शुभम् भूयात् ॥